खलों की मित्रता दिन की पूर्वार्धवाली छाया के समान पहले बड़ी होती है किंतु धीरे धीरे क्षीण होती जाती है, और उधर सज्जनों की मैत्री दिन के परार्धवाली छाया के समान पहले तो छोटी होती है किंतु समय के साथ बढ़ती ही जाती है। खलों की जिस मैत्री का यहाँ वर्णन हुआ है वह वास्तव में मैत्री न हो कर केवल धोखेबाज़ी है।

संसार में सभी मित्रताएँ निष्कारण प्रारंभ नहीं होतीं, किंतु भद्र पुरुषों का यह सहज स्वभाव है कि किसी भी कारण से जब किसी से एक प्रकार का सद्व्यवहार बढ़ गया, तो वह कारण निकल जाने पर भी उस में क्षति न आने पावे। भद्रत्व तथा वज़ादारी के यही माने हैं कि जिस को एक बार जैसा कह कर पुकारा उसे श्रेष्ठतर भले ही कहें, किंतु बिना किसी दूषण के अधमतर कभी न कहना। इसीलिये कहा गया है कि जिसकी बात दो उसके बाप दो। बात का स्थिर रखना सज्जनता का एक बहुत बड़ा अंग है। जिसकी बात एक नहीं उसे पूरा निमुच्छा समझना चाहिए। सज्जन पुरुषों की मित्रताएँ प्रारंभ में सकारण होने पर भी आगे बढ़ कर निष्कारण हो जाती हैं। उधर दुष्ट लोग निष्कारण मित्रता करते ही नहीं।

शुद्ध मित्रता केवल समता सिद्धांत पर हो सकती है। जो लोग अपने को समान नहीं समझते उनमें आश्रयी-आश्रित एवं ऐसा ही कोई और संबंध भले ही हो किंतु शुद्ध मित्रता नहीं हो सकती। शुद्ध मित्रता के लिये मित्रों के धन, वैभव, बुद्धि, विद्या, अधिकार ऐश्वर्य्यादि में समानता होनी आवश्यक

नहीं। किंतु यह आवश्यक है कि किन्हीं भी ... कारणों से वे एक दूसरे को वास्तव में समान ... और ऐसा ही व्यवहार आपस में करते हों। बिना इसके ... में कुभाव जुड़ जाने से कच्चापन आ जावेगा। अधिक ... यहाँ तक माना जा सकता है कि मित्र चाहे एक दूसरे ... समान न भी समझते हों, किंतु यह आवश्यक है कि वे ... हों कि आपस में समता का व्यवहार कर सकते हों। ... में समता का होना बहुत ही अच्छा है, किंतु यदि ... तक में शुद्ध समता हो तो विशुद्ध मैत्री मानी जा सकती। महर्षि द्रोणाचार्य्य पाँचालराज द्रुपद के बालसखा थे, जब उसके राजा होने पर ऋषिवर ने उसे जा कर सखा ... तब मोहवश वह क्रोधांध हो गया और एक ... हीन ब्राह्मण द्वारा सखा कहे जाने से उसने अपनी ... समझ कर द्रोणाचार्य्य को अनेक दुर्वचन कहे। उदाहरण से द्रुपद का क्षुद्रत्व और द्रोणाचार्य्य का स्वभाव तो प्रकट होता ही है, किंतु यह भी प्रदर्शित हो... कि जब तक दोनों मनुष्य एक दूसरे को समान न समझ... तक उनमें वास्तविक मित्रभाव स्थिर नहीं हो सकता।

ऊपर हम मित्रता की मुख्यताओं का वर्णन कर चुके, यह कथन शेष है कि कैसे लोग एक दूसरे के मित्र हो ... हैं और उनको आपस में कैसा व्यवहार करना चाहिए? हम प्रथम विषय को उठाते हैं। स्वाभाविक प्रकार ... ही एक दूसरे के मित्र हो सकते हैं।

द्रुपद ने द्रोणाचार्य्य का ...

योग्यता के लिये गुणग्राहकता और वैविध्य बहुत बड़े हैं, तथा आनिर्वृत्य (एकांगीपन) बहुत बड़ा दोष है। मनुष्य सब ओर दृष्टि दौड़ा कर सभी या बहुत प्रकार के गु को पसंद नहीं कर सकता, वह तेलीवाले बैल के समान जाता है। इस प्रकार उसकी जीवन-पूर्णता में बहुत क्षति पहुँचती है। यदि राजा द्रुपद अपने ऐश्वर्य्य से मदांध न होता, तो उसे द्रोणाचार्य्य में बहुत से पूज्य गु देख पड़ते, जैसे कि भीष्म पितामह को देख पड़े, और केवल यह कह कर अपनी मूर्खता प्रकट न करता कि—

"सखा ऐसे नरन के नहिं होत भूप सुजान।
धनहीन ब्राह्मण कृपण भिक्षुक फिरत माँगत दान॥"

बहुधा देखा गया है कि जिसके पास जो गुण होता है वह यदि साधारण पुरुष हुआ तो आत्म-प्रेमवश उसी गुण को सर्वोपरि मान कर अन्य परम श्रेष्ठतर गुणों से भी ऐसा ही उदासीन रहता है जैसे कि राजा द्रुपद रहा। गुणोपासक होना जीवन-प्रपन्नता के लिये परमावश्यक है और यही गुण मनुष्य को मित्र बनने योग्य बनाता है। महात्मा बासवेल डाक्टर जानसन के गुणों पर ऐसा मुग्ध था कि हजार प्रकार ज़कें खाने पर भी उससे जानसन के गुणों पर मुग्धता प्रकट किए बिना नहीं रहा जाता था। यही भाव सज्जनता के लिये आवश्यक है और यही मित्रता का प्राण है।

मनुष्य बाल्यय में बहुत श्रद्धालु रहता है और उसमें श्लाघा का गुण बहुत अधिक होता है। इस अवस्था में

ंया के छल प्रपंच भी नहीं घेरते और मनुष्यों को सांसा-
क चिंताएँ बहुत कम रहती हैं। बालकों में उत्साह की भी
त्रा अधिकता से होती है। अतः वे जो कुछ करते हैं उसे
। अनुराग और उमंग के साथ। इन्हीं कारणों से यह
ास्था मित्रता के लिये परम उपयोगी है। इस अवस्था
मनुष्य का ज्ञान संकुचित रहता है और वह जानता भी है
में पूर्ण ज्ञानी नहीं हूँ। अतः वह सभी बातों के सीखने
। प्रयत्न किया करता है और उनमें पूर्ण उत्साह के साथ
र लगाता है। जो मनुष्य जितनी अधिक बातों में मन लगा
कता है उसे उतनी ही अधिक प्रसन्नता हो सकती है।
र कारणों से बाल्यावस्था आनंद भोगने की उमर है।
स वयस में मनुष्य थोड़ी ही सी बात से बहुत प्रसन्न हो
ाता है। बच्चे साधारण गाड़ी को निकलते हुए देखकर ही
ारे आनंद के उछलने लगते हैं। ईश्वर ने यह अवस्था सभी
ुछ प्राप्त करने के लिये बनाई है। इसमें मनुष्य विद्या, सुख,
ित्र, कौतूहल आदि बड़ी सुगमता से प्राप्त कर सकता है
ौर करता भी है। मित्रता उत्पन्न करने और बढ़ाने के
ाभी लक्षण बालक में होते हैं। थोड़ी बात से अधिक आनंद
ाप्त करनेवाली वानि के कारण बालक मित्रता से पूरा
आनंद उठाते हैं। इसीलिये सयानी अवस्था में भी यह सुख
्मरण रहने के कारण मनुष्य को बालवय के मित्रों पर सदैव
श्रद्धा रहती है। यथासाध्य भाई भाई को मित्र अवश्य होना
चाहिए क्योंकि ये प्राकृतिक सखा हैं। संबंधियों में भी यथा-
संभव मित्रभाव की स्थापना करनी चाहिए।

लेक सज्जन पुरुप का धर्म है कि किसी से चाहे मि-
भी हो, किंतु फिर भी उससे सौहार्द्रपूर्ण व्यवहा
। ऐसा आचरण रखने से वह मनुष्य संसार
हा जा सकता है । मित्रता एक परम स्वाभावि
। जानवर भी समय पर मित्रता दिखलाते हैं। कु
ता बहुत ही ऊँचे दर्जे की होती है। बहुत से हाथ
ादि भी अपने मालिक एवम् भोजनदाता से प्रगा
रखते हुए देख गए हैं । फिर यदि सर्वगुणसंप
नुष्य मित्रभाव का समादर न करे, तो उसे शत्र
है। मित्रता भी बिना किसी के गुण दोष जाने अनुचि
के साथ कभी न करनी चाहिए कि जिसमें पीछे स
पड़े । मनुष्य को प्रत्येक संबंध बहुत सोच सम
ाना चाहिए । यदि किसी प्राकृतिक संबंधी से
त्रता टूटे, तो मनुष्य कह सकता है कि मैं इस विषय
ाता नहीं हूँ, क्योंकि यह मित्रता प्रकृति की जोड़
कि मेरी । इधर स्वयं आर्जित मित्रता के टूटने
उत्तरदायित्व उसी मनुष्य पर पड़ता है जिसने कि
और फिर तोड़ा । कहा भी है कि—

तोरन में नव नेह नहीं चंचलता आनौ ।
तुरे नेह पै ताहि निबाहन ही अनुमानौ ॥

हम कह आए हैं कि मित्रता की मुख्यताएँ क्या
कैसे लोग मित्र हो सकते हैं ? अब यह कहना शेष
त्रता होने पर कैसा व्यवहार उचित है। महात्मा
... जी ने इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया है—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी ।
तिनहिं बिलोकत पातक भारी ॥
निज दुख गिरिसम रज कर जाना ।
मित्र के दुखरज मेरु समाना ॥
जिन के अस मति सहज न आई ।
ते सठ कत हठि करत मिताई ॥
देत लेत मन संक न धरई ।
बल अनुमान सदा हित करई ॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा ।
गुण प्रगटइ अवगुनहिं दुरावा ॥
विपति काल कर सतगुन नेहा ।
श्रुति कह संत मित्र गुन एहा ॥
आगे कह मृदु बचन बनाई ।
पाछे अनहित मन कुटिलाई ॥
जाकर चित अहि-गति सम भाई ।
अस कुमित्र परिहरेहिं भलाई ॥
सेवक सठ नृप कृपिन कुनारी ।
कपटी मित्र सूल सम चारी ॥

उपरोक्त छंदों में गोस्वामी जी ने मित्रता का बहुत ही सुंदर और विशुद्ध रूप कहा है । वास्तविक मित्र के लिये संसार में कोई पदार्थ अदेय नहीं होना चाहिए, विशेषतया समय पड़ने पर । जिस समय वीरवर अर्जुन ने भगवान श्री कृष्णचंद्र से उन्हीं की भगिनी भगा ले जाने की सम्मति मांगी, तब भी भगवान ने नाहीं न की और उन्हें इस कार्य

में सहायता भी दी। मित्रों को सब प्रकार से अपने को समझना चाहिए। मित्र को उचित सहायता में तन मन का अर्पण करना परमावश्यक है। इतिहास में मित्रों के उदाहरण मिलते भी हैं। वीरवर कर्ण राजा दुर्य्योधन अंतरंग मित्र था। जिस समय भगवान श्रीकृष्ण ने एवं उसकी माता कुंती और पिता सूर्य्य ने उसको सम्मति कि "तू सूतजपन छोड़ कर पांडव हो जा, और सब भाई में बड़ा होने के कारण राज्य कर" तब उसने निःशंक भाव से यही उत्तर दिया कि मैं अपने मित्र दुर्य्योधन साथ कदापि नहीं छोड़ सकता। उसने भगवान से कहा। मैं अपने पालक माता पिता का पिंड छेदन कदापि न करूंगा और—

"ताहू सों अति कठिन है दूजो कारण तात।
दुर्य्योधन के मित्र हम सब नृपगन में ख्यात॥
मोहिं भीष्म द्रोण कृप सों अधिक योधा जानि।
पांडव सों वैर कीन्ह्यो मंत्र मम हित मानि॥
युद्ध करि जयलहन को अति मोर जाहि भरोस।
तजव ऐसे काल ताहि विश्वासघातकु दोस॥
होत सब पातकन सों विश्वासघात गरिष्ट।
परम धर्म्मी विदित हम किमि करैं सो गति इष्ट॥"

यही शुद्ध मित्र का कर्त्तव्य है जो पालन करके कर्ण अक्षय यश प्राप्त किया। फिर भी संसार में प्रत्येक मनु अनुचित लाभ की आशा कभी न करनी चाहिए। जा

ायता करे, वहां दूसरे का भी कर्त्तव्य है कि अपने लिये
ा को तिल मात्र कष्ट या संकोच न होने दे। सुदामा परम
द्री होने पर भी कृष्ण भगवान के सखा थे। जब उनकी
ने यह सुना कि भगवान उनके बालसखा हैं, तब उसने अपने
: को भगवान के पास जाने के लिये हठ किया। इसका
र महात्मा सुदामा ने इस प्रकार दिया—

"तूतो कहै नीकी सुनु मोसों बात जी की यह रीति मित्रई की
र प्रति सरसाइए। चित के मिले ते वित चाहिए परसपर जेंइए
मीत के तो आपने जिमाइए॥ वे हैं महराज जोरि बैठत समाज
। तहाँ यहि रूप जाय कहा सकुचाइए। दुखै सुखे अब तौ
ई दिन भरे भूलि विपति परे पै द्वार मीत के न जाइए॥"

घोर दरिद्रता के कारण इनकी स्त्री ने हठ न छोड़ा और
हें द्वारिका जाना ही पड़ा। इस पर भगवान ने इन्हें इतना
ान दिया कि—

"कहै रुकुमिनी स्याम सों यहधौं कौन मिलापु।
करत सुदामा आपु सम होत सुदामा आपु॥"

फिर भी संसार में सर्वत्र इस ऊँचे दरजे की मित्रता नहीं
ख पड़ती, अपिच प्रत्येक समय मनुष्य में वीर भाव नहीं
ागृत रहता। इसीलिये यदि कोई मनुष्य कवियों द्वारा
ार्णित मित्रता के पाये तक अपना आचरण न पहुँचा सके,
अथवा किसी समय भूल कर कोई पोच काम भी कर बैठे,
ों उससे एक बारगी श्रद्धा उठा लेनी अनुचित है। यह सदैव
स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य स्वभावशः एक निर्बल जीव
है। यहाँ तक देखा गया है कि मूर्ख लोग अपने मजाक के मजे

को भी न छोड़ सकने के कारण कभी कभी मित्रता
देते हैं। जैसे अन्य संबंधों की दृढ़ता के लिये
आवश्यक गुण है उसी भाँति मित्रों में भी
व्यवहार होना उचित है। साधारणतया कोई भी ऐसा
नहीं है जो क्षमाशील मनुष्य क्षमा न कर सकता हो।
वान वसिष्ठ की नंदिनी गाय विश्वामित्र उनके
लेते थे, किंतु फिर भी उन्हें क्रोध न आया और उन्होंने
कि "क्षमा मोहिं न तजत नंदिनी रुचै कीजै तौन।"
भाँति शत पुत्रों के वध पर भी ऋषिवर वशिष्ठ ने
त्याग नहीं किया। साधारणतया यदि मित्र का अधिक
न हो सके, तो भी मनुष्य को उचित है कि यथासाध्य
किसी आशा के उपकार करे। मित्र का अपकार बहुत
पातक है। प्रत्युपकार शुद्ध मित्रता का अंग नहीं है।
जैसी मित्रताएँ संसार में बहुधा देखी जाती हैं, उनके
से इस पर सदैव ध्यान रखना चाहिए। कहा भी है—

कृते प्रत्युपकारो यो वणिग्धर्म्मो न साधुता।
तत्रापि ये न कुर्वन्ति पशवस्ते न मानुषाः॥"

मित्रता केवल अधिकार नहीं है। वरन् इसका
दायित्व भी बहुत अधिक है। इस लिये बिना सोचे
किसी को मित्र न मान लेना चाहिए। मित्रों की
परिमित रहनी चाहिए। जो लोग बहुत से मित्र करते
उनका कोई भी वास्तविक मित्र नहीं होता और वे
मानसिक भ्रमवश केवल चिन्हारियों को मित्र समझा
हैं। ऐसे ही

ा भी मनुष्य में असीम नहीं होती। वास्तव मे यह मात्रा
व ही सीमा-संकुचित है, यद्यपि साधारण लोग इस बात
समझ नहीं पाते। यह प्रेम चाहे थोड़े मनुष्यों में बाँटें
हे बहुत मे, किंतु इतना स्मरण रखना चाहिए कि बाँटने
पूँजी उतनी ही है। बहुत लोगों में बाँटने पर उसकी मात्रा
ते स्थान मे बहुत ही स्वल्प रह जाती है। शर्करा पास
नी ही है। मनुष्य का अधिकार है कि उससे चाहे जितना
ठा अथवा फिका शर्बत बना ले। यह कथन कुछ विवाद-
त अवश्य है। अभ्यास से मनुष्य प्रेम की मात्रा बढ़ा सकता
किंतु योगियों को छोड़ वह और किसी में असीम नहीं हो
कता। उपरोक्त कथन हमने अपने अनुभव के अनुसार
या है। संभव है कि अन्य लोग इसे न मानें, किंतु हमारे
खने में जितनी मित्रताएँ आईं उनमें हमने यही पाया कि जिन
अधिक मित्र हैं उनमें प्रगाढ़ मैत्री नहीं है और जिनके
ड़े मित्र हैं उनकी मित्रता का संबंध विशेषतया घनिष्ट
खा गया है। साढ़े तीन तथा सौ मित्रों वाली कहावत भी
सी विचार को पुष्ट करती है। कहते हैं कि एक वृद्ध के
ाढ़े तीन मित्र थे और उसका पुत्र समझता था कि
रे सौ मित्र हैं, किंतु जब परीक्षा ली गई तब पितावाले
ाधे मित्र के समांश भी पुत्र के सौ मित्रों में से एक भी
न निकला।

समय के साथ प्राचीन मित्रता स्वभावतः कुछ मंद पड़
जाती है। ऐसी दशा में मनुष्य को अपने प्राचीन मित्रों को
दोष न देना चाहिए। सज्जनता एवं मित्रता का इतना तकाजा

(१) चापलूस अपने सिद्धांतों की कुछ भी परवाह किए बिना आपके सभी विचारों से सहमत होगा, किंतु मित्र ऐसा नहीं करेगा।

(२) चापलूस एक सिद्धांत पर न चल कर पृथक् पृथक् समयों में आप के विपरीत विचारों का भी समर्थन करेगा, जो बात मित्र से न होगी।

(३) चापलूस आप की उचित से अधिक प्रशंसा करेगा, यहां तक कि आपके साधारण कथनों को भी सातवें आसमान पर चढ़ा देगा।

(४) यदि आपकी किसी सच्चे मित्र अथवा कुटुंबी से मन-मैल हुई, तो चापलूस उसे और भी बढ़ाने का प्रयत्न करेगा।

(५) जब आप को चापलूस की सहायता की आवश्यकता न होगी, तब वह सहायता करने की परम उत्कट इच्छा प्रकट किया करेगा, किंतु समय पर झट निकल जायगा। कहा भी है कि—

> तुलसी सम्पति के सखा परम [illegible]
> सज्जन सोना कसन विपि [illegible]
> रहिमन विपदाहू भली जो [illegible]
> हित अनहित या जगत में जा[illegible]

इस विषय में एक बात का [illegible] श्यक है कि हमें अपने मित्र से आशा न रखनी चाहिए जो स्वयं हम

छठाँ अध्याय।

संग।

नुष्य को प्रकृति ने एक सभ्य जीव बनाया है। वह
:तः संग ढूँढ़ता है। संग दो प्रकार से प्राप्त होता है,
एक भाग्यदत्त और दूसरा स्वयं अर्जित। बहुतों का
है कि मनुष्य दशाओं द्वारा रचा गया है, अर्थात् जैसी
ा और संगति में वह रहता है वैसा ही हो जाता है। दो
दार्शनिकों का यह भी कथन है कि मनुष्य दशाओं का
नहीं, वरन् कर्ता है, अर्थात् अपने इच्छानुसार वह
संग चाहता है वैसा प्राप्त कर सकता है। ये दोनों
त कुछ कुछ दशाओं में ठीक हैं। जहाँ तक संग भाग्य-
है, वहां तक मनुष्य के शील स्वभाव उसके फल हैं।
स्वयं अर्जित संग के जो प्रभाव मनुष्य पर पड़ते हैं
उत्तरदायित्व उसी पर है। मनुष्य किसी कुटुंब में
होता है और दस बारह वर्षों तक अवश्यमेव उसमें
है। इस अवस्था में चिर काल पर्यंत उसे सत्संग
ा कुसंग मिलता है, किन्तु न इसे पाने का उसने कोई
न ही किया था और न इससे वह बच सकता था।
लिये हम इसे भाग्यदत्त संग मानते हैं।

भाग्यदत्त संग का प्रभाव स्वयं अर्जित संग पर पड़ता
क्योंकि भाग्यदत्त संग से मनुष्य की जैसी प्रकृति हुई है,

वयों के अनुसार वह साधारणतया आनेवाले संग का संं
होगा, अर्थात् वह जैसा है वैसा ही संग आगे भी ढूँढ़ेगा
जहाँ तक भूत-संग भविष्य-संग पर अपना प्रभाव डालता
वहाँ तक, और केवल वहीं तक, मनुष्य दशाओं का फल क
जा सकता है। साधारण प्रकृति के मनुष्यों में यह प्रभाव वि
विशेष बलशाली होगा, किन्तु जिनमें कुछ भी मस्तिष्क-प्रबल
है वे नूतन विचारोत्पादन एवं सुसंग-प्राप्ति में भाग्यदत्त सं
द्वारा वंचित नहीं रक्खे जा सकते। मनुष्य का यही गुण उसे
उत्तरदायित्व बढ़ा कर उसे अपनी दशा का कर्ता बनाता है।

मनुष्य को दो प्रकार का संग प्राप्त है, अर्थात् मनुष्य
और पुस्तकों का। सत्संग श्रेष्ठतम गुरु है। इससे अच्छी
शिक्षा मनुष्य को कहीं से भी नहीं प्राप्त हो सकती। इस
लिये उसे उचित है कि अच्छे से अच्छे मनुष्यों और पुस्तकों
का संग प्राप्त करे। जो जैसे लोगों और ग्रंथों का संग रखता
है वह वैसा ही हो जाता है, वरन् यों कहें कि मनुष्य जैसा
होता है वैसा ही संग ढूँढ़ता है। उसका स्वभाव सदा उस
के संग से जाना जा सकता है। प्रकृति से ही मनुष्य अनु
करणशील है। इस लिये अच्छे संग में रहने से वह संगियों
के सद्गुण प्राप्त करता हुआ दिनों दिन उन्नति करता जाता
है। किंतु कुसंग में पड़ने से उसमें क्रमशः दुर्गुणों की वृद्धि
होती है। यह एक प्राकृतिक नियम है कि मनुष्य जिस
को बहुत देखता है उसे वह साधारण समझने लगता है
प्रकार वेही कर्म्मसमुदाय उसके साधारण कार्यों में
हो जाते हैं। यदि कोई कुसंगति में पड़ा, तो

बुराइयों देखते देखते वह उन्हें साधारण समझने लगता है, और चाहे इनसे पहले घृणा भी रखता हो, किंतु धीरे धीरे घिसती हुई वह घृणा लुप्तप्राय हो जाती है। संसार उन्नतिशील है। प्रत्येक मनुष्य जिस गुण अथवा अवगुण को ग्रहण करता है, उसे दिनों दिन बढ़ाता ही जाता है। इसलिये कुसंग में पड़ने से मनुष्य पहले छोटी छोटी बुराइयों को साधारण समझता है, और जब वे बुराइयाँ इस प्रकार उसकी प्रकृति में मिल जाती हैं, तब वह उनसे कुछ बड़ी बुराइयों को भी साधारण समझने लगता है और वे भी उसकी प्रकृति में मिलने लगती हैं। इसी प्रकार क्रमशः बड़ी से बड़ी बुराई उसे साधारण समझ पड़ती है और उसकी प्रकृति का अंग बन जाती है। एक बार एक महाशय ने, जो कभी कोई नशा नहीं खाते थे, अपने ग्रामवासी एक अफ़ीमची से कहा कि अफ़ीम तो हर प्रकार से हानि ही पहुँचाती है, तब तुम उसे क्यों खाए जाते हो, छोड़ क्यों नहीं देते? अफ़ीमची साहब, जो स्वभावशः अफ़ीम का खाना बहुत ही साधारण समझते थे, बोले—"ददुआ! साँची कहियो। भला कौन अफ़ीम नाईं खाति है? का हम हीं खाइयति है? आजु दुनियाँ अफ़ीम खाय रही है। का ददुआ तुम नाहिं खाति हौ? तुम अमीर हौ, तुम्हारी छिपी है; हम गरीब हन्, हमारी नाईं छिपति है। हमारे मुँह मा माछी भन्न मचौती हैं। तुम गिज़ा उड़ावति हौ, तुम्हारो चेहरा दमकि रहो है।" वे अफ़ीम का खाना ऐसा साधारण समझते थे कि उनके विचार से सभी लोग उसे खाते थे।

इसी भाँति सत्संगति से मनुष्य की प्रकृति दिनों दिन उच्च होती जाती है। जैसे कुसंगति से वह एक के पीछे दूसरी बुराई को साधारण समझता हुआ अपनी प्रकृति का अंग बनाता जाता है, वैसे ही सुसंग से वह क्रमशः उत्तरोत्तर भलाइयों को साधारण समझता हुआ अपनी प्रकृति का अंग बनाता हुआ उत्तरोत्तर उन्नति करता है; जिससे उसकी प्रकृति दिनों दिन परिष्कृत होती जाती है। जिन भलाइयों का करना वह अनुभव के अभाव से असाधारण एवं कठिन समझता था, उन्हें भी अपने से उच्च प्रकृति वाले मनुष्यों को साधारणतया करते देख स्वयं भी करने लगेगा। इस प्रकार अच्छे एवं बुरे व्यवहार स्वयं तो भले या बुरे हैं हीं, किंतु उदाहरण द्वारा संसार में उन गुणों एवं अवगुणों की वृद्धि करके और भी पूज्य अथवा गर्हित हो जाते हैं, क्योंकि मनुष्य का प्रत्येक कर्म उससे निर्बल प्रकृतिवाले मनुष्य को तदनुसार कर्मसमुदाय की ओर न चाहते हुए भी खींचता है। इसी से महात्मा तुलसीदास जी ने आज्ञा दी है कि—

को न कुसंगति पाय नसाई। रहै न नीच मते चतुराई॥
सतसंगति मुद मंगल मूला। सोइ फलसिधि सब साधन फूला॥
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस-परसि कुधातु सोहाई॥

इसी प्रकार गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने आज्ञा दी है कि "हे अर्जुन! तीन लोक में मुझे कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है, कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो मैंने प्राप्त न कर ली हो अथवा न कर सकता हूँ, किंतु फिर भी मैं कर्मों ही में वर्त्तमान हूँ। यदि मैं ही आलस्य को छोड़ कर अच्छे कर्मों में न लगूँ, तो हे

पार्थ ! सब मनुष्य मेरे ही मार्ग में लग जावें, अर्थात् कर्म छोड़ देवें। यदि मैं कर्म न करूँ तो सब लोग (उदाहरण के अभाव से) भ्रष्ट हो जावें। इस दशा में मानों मैं ही वर्णसंकर का करनेवाला और सब मनुष्यों का विनाशक हूँ।"

उपरोक्त कथन में भगवान ने उदाहरण की महिमा दिखलाई है। यही उदाहरण का सिद्धांत संगभव गुण दोषों का मूल कारण है। सत्संगति भी अनेक प्रकार की होती है। मनुष्य को जिस गुण विशेष की वृद्धि अपने में करनी अभीष्ट हो, उसी प्रकार के गुणियों का संग उसके लिये सुखग होगा। संग में दो भाव प्रधान हैं। जो मनुष्य सभा सोसाइटियों अथवा साधारण मेल मिलापों में भी अधिक बोलने का उत्सुक रहता है, वह मानो गुरु भाव से संग ढूंढता है, अर्थात् शिष्य पाने का आकांक्षी है। उधर जो पुरुष बोलता कम और दूसरों की सुनता विशेष है, वह मानो शिष्य भाव से संग की चेष्टा करता है। अपने अनुभव एवं ज्ञान द्वारा प्राप्त विचारों का जो जितना कथन करता है, मानो वह औरों को उतनी ही शिक्षा देता है। इसलिये प्रत्येक पुरुष का पवित्र कर्तव्य है कि गुरु का कार्य्य उठाने के पूर्व सोच लेवें कि उसके उपदेश कैसे हैं। प्रायः अनुचित उदाहरण दिखलाती है और वक्ता की मूर्खता भी प्रकट कर देती है।

इन्हीं उपरोक्त विचारों से प्रत्येक मनुष्य का धर्म है कि वह समाज में तभी बोले जब बोलना न बोलने से श्रेष्ठ हो अर्थात् जब उसका कथन दूसरों के लिये हितकर हो। सभाओं में बहुधा देखा गया है कि प्रत्येक

नुष्य इस बात का समय ढूँढ़ा करता है कि कब मौक़ा
र अपनी बात कह दूँ। प्रत्येक जन-समुदाय में दो
वकवादी होते हैं कि अपनी धृष्टता के कारण अपनी
गल बातें बके चले जाते हैं और दूसरों को कुछ कह
समय ही नहीं देते। ऐसे मनुष्यों को अपनी मूर्खता पर
व होना चाहिए, किंतु वे समाज का समय नष्ट करने से
प्रसन्न होते हैं कि अपने कथनों का अर्ध काल यदि बात
लगाते हैं तो शेषार्ध हँसने में। मूर्ख के लिये प्रग-
क बहुत बड़ा दूषण है, क्योंकि इससे उसकी मूर्खता
श बहुत अधिकता से होता है। मौन मूर्खों का बहुत
लंबन है क्योंकि इस प्रकार शिष्य भाव ग्रहण करने
ाजों में औरों के कथनों द्वारा कुछ तो ज्ञान वृद्धि
करेगा। यह बात हमारे अनुभव में भी बहुत
आई है। कहा भी है कि—
"विभूषणं मौनमपंडितानाम्"।

—

न मैं अनुमानि मौन विधि भलो बनायो।
ुप्त रहस्य अमित रचिकै, सुख पायो॥
ंद मैं कहाँ कहाँ लगि तव करतापन।
को वेष मनो विरच्यो यह ढापन॥
ुनमंडित अतिविशद वर बुधिवंत समाज है।
निन के हेत यह भूषण परम दराज है॥
सने से प्रकट होगा कि मौन केवल मूर्खों
है, वरन् उन विद्वानों के लिये भी परमा-

वश्यक है जो अपनी विद्या और अनुभव को दिनों दिन वर्धमान करने के उत्सुक हैं। पृथ्वी निर्बीज नहीं है और सभी प्रकार के अच्छे से अच्छे गुणी इसमें वर्तमान हैं। अतः संग समाजों में भी एक से एक बढ़ कर गुणी मिलते हैं, किंतु वे अपने कथन सुनाने के लिये मूर्खों से होड़ लगाना पसंद नहीं करते। यदि लोग उनके उच्च विचार सुनने के उत्सुक हों तो उनसे अवश्यमेव लाभ उठा सकते हैं, क्योंकि—

गूढ़ौ तत्व न साधु दुरावहिं। सज्जन उपकारी जब पावहिं।

एक यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि प्रगल्भ पुरुष सत्यवादी नहीं हो सकता। उसके मुँह से न चाहते हुए भी बहुभाषिता के कारण झूठ कथन निकल जायगा। बक्की मनुष्य अपने ध्यान को एकाग्रता से शुद्ध करने में बहुधा असमर्थ रहेगा। इसीलिये हमारे यहाँ अनेकानेक ऋषिगण मौन-व्रत धारण करते थे और अब भी करते हैं। पाश्चात्य देशों में भी क्रेकर नामक एक संप्रदाय है, जिसका यह विश्वास है कि यावज्जीवन कोई भी अनावश्यक कथन कभी न किया जाय। ये लोग सत्यता पर इतना अधिक ध्यान रखते हैं कि अटकल से कोई बात कहते ही नहीं, क्योंकि उसके असत्य होने का भय है। यदि पाँच बज कर ५८ मिनट गए हों और समय पूछने पर कोई छः बजे बतलावे, तो क्रेकर कह देगा कि यह कथन अशुद्ध है, क्योंकि छः बजने में दो मिनट शेष हैं। क्रेकरों की धर्मसभा होने पर किसी प्रकार का कोई

व्याख्यान आदि नहीं होता। सैकड़ों मनुष्य एकत्र हो अपने प्रकार से ईश्वर का चिंतन आदि करते हैं ले मुख से प्रायः कोई एक शब्द भी नहीं निकालता। यदि को बड़ा ही धार्मिक उद्वेग आया तो शायद कभी दो बातें कह दी गई। क्वेकरों की सभाओं में बहुधा मौन नहीं होता।

समाजों में जो मन में आवे वही अनाप शनाप डालना मूर्खता की पराकाष्ठा है। विद्वत्तापूर्ण एवं सम नुकूल बात चीत करने की शक्ति बहुतों के पास नहीं होत सभाचातुर्य एक बहुत बड़ा गुण है। बात चीत करने वैविध्य की बड़ी आवश्यकता है। जो मनुष्य सभी प्रव के उचित वार्त्तालापों में वास्तविक अनुरक्ति प्रकट कर स वह सभी प्रकार के समाजों में सत्कारित होगा और सब प्रसन्नता लाभ कर सकेगा। अधिकता से समाजों में ऐ बात कहना उचित है कि जिससे उस स्थान में एकत्रि अधिकांश लोग अनुरक्त हों। किसी का समय नष्ट कर का कोई पुरुष अधिकार नहीं रखता। यदि आप समाज कोई ऐसी बातें कहें जिनसे अधिकांश लोगों को उदासीनत हो तो भी यदि वे सभ्य हैं, तो वहाँ से उठ न जावेंगे। न केवल इतना वरन् सज्जनता के कारण शील संकोचवश उन्हें सभ्यता के नियमानुसार आप के कथनों में ध्यान भी लगान होगा। फिर आप ही सोचिए कि इतने लोगों के समय नष्ट करने का आपको कौन सा प्राकृतिक अधिकार है? अनु- [illegible]त हानि एवं लाभ से मनुष्य को सदैव बचना चाहिए।

दूसरे को अनुचित हानि पहुँचानी भी सर्वतोभावेन तिरस्करणीय है। प्रायः देखा गया है, कि साधारण मनुष्य अपने ही पेशे की बात चीत समाज में छेड़ते हैं। इसको अंग्रेजी में "Shop-talk" (दूकानदारी की बात चीत) कहते हैं। इसका चलाना मनुष्य की प्रचंड मानसिक दुर्बलता का बोधक होता है और दिखलाता है कि ऐसा मनुष्य तेली वाले बैल के समान कोल्हू की कोठरी के बाहर नहीं निकल सकता। प्रायः सभी बातों में आनिधृत्य त्याज्य है। किसी को यह अधिकार नहीं है कि सभ्य समाज में भी कथनों द्वारा मानों अपनी दूकान खोल देवे। बहुत से लोग समाज में भी मानों दूसरों के दोष निरीक्षण करने ही को जाते हैं। सभी को अश्लाघ्य समझनेवाला मनुष्य बड़ा ही पोच होता है। गुण दोष सब में होते हैं, किंतु दुष्ट लोग कौओं के समान पर के श्रेष्ठतर भागों को छोड़ आजूरों ही पर बैठने की पात्रता रखते हैं। दुष्टों का यह एक बड़ा चिह्न है कि वे दूसरों के गुणों के लिये ऐसे ही अंधे होते हैं जैसे कि अपने अवगुणों के लिये। कहा भी है कि दुष्ट पुरुष दूसरों के सरसों बराबर दोष देखता है किंतु अपने बेल से बड़े दोषों तक को देखता हुआ भी नहीं देखता है। यदि किसी में दूषण हो भी अथवा वह अनुचित कथन करे तो भी बात बात में प्रतिकूलता करने की आदत दुःखकारक है। सभ्य लोग अनावश्यक प्रतिकूलता करते ही नहीं और जहाँ आवश्यकता-वश उन्हें प्रतिकूलता करनी ही पड़ती है, वहाँ भी इस चतुरता से कथन करते हैं कि चित्त प्रसन्न हो जाता है। उनकी

बातों को मान लेना झुठाई का बढ़ाना है और अनुचित प्र
कूलता घृणास्पद है, इसलिये सुधी पुरुष मध्यवृत्ति प्र
करते हैं। कहा भी है कि—

साँचु प्रिय मुनि प्रिय बानि को कथनहार परम प्र
मन माहिं मोद पायो है।

इन विचारों से विवाद संबंधी सभाओं का कोई सरो
नहीं है। वरन् ये साधारण सभ्य समाजों के विषय
कथन किए गए हैं। जो स्थान विवाद आदि के लिये नि
है उनमें युक्तियुक्त प्रतिकूलता अवश्य करनी चाहिए। फिर
तर्कहीन प्रतिकूलता कहीं शोभा नहीं पाती। यदि अनुचि
प्रतिकूलता एवं अनुचित भोलेपन को छोड़ कर कोई मनु
अपने चिन्हारियों और मित्रों की शुद्ध मानसिक समीक्षा करे
जाय तो ज्ञात होगा कि प्रत्येक साधारणतया शिक्षित पुरु
भी एक अच्छे ग्रंथ के समान ज्ञानदायक है। यदि मनुष्
को पुस्तक मान कर उन्हें पढ़िए तो विदित होगा कि वे पुस्त
से अधिक लाभदायक हैं। पुस्तक में जितने विचार अंकि
हैं वेही हैं। आप के संदेह निवारण के लिये ग्रंथ एक अक्षर भ
न्यूनाधिक न कहेगा। इधर व्यक्ति अनेकानेक तर्क वितर्क
से अपना मत पुष्ट कर देगा और यथासाध्य आपके संदेह भ
दूर करेगा। यदि वह सज्जन है तो उसके कर्म्मों और कथनें
में समानता होगी। इस प्रकार उससे उच्च सिद्धांतों की
शिक्षा न केवल कथनों द्वारा वरन् उदाहरण द्वारा भी आप
को प्राप्त होगी। अँग्रेजी में एक कहावत है कि यदि मुझ से
स्नेह रखना चाहते हो तो मेरे कुत्ते से भी ... कथन

हो शुद्ध प्रकार से एक पाश्चात्य ग्रंथकार ने यों लिखा है के, यदि आप मेरे मित्रों और पुस्तकों से स्नेह मान सकते हैं तो मुझ से अवश्य मानोगे। जो मेरी पुस्तकों का प्यार कर सकेगा उसके विचार मेरे विचारों के समान अवश्य होंगे। ऐसी दशा में मानसिक भाव से वह पहले ही से मेरा मित्र है। सांसारिक मनुष्यों में कोई पूर्णतया अच्छा या बुरा नहीं होता। अच्छे से अच्छे लोगों में भी दो चार दोष निकल आते हैं और बुरे से बुरे में भी दो चार गुण होते हैं। इसलिये समीक्षा करनेवाले को बहुत सजग रह कर सदाहरणों के कर्म्मों से भलाई या बुराई की शिक्षा लेनी चाहिए। चाहे जहाँ हो अमृत अमृत ही है और विष विष ही।

जो लोग सामाजिक जीवन अधिकता से पसंद नहीं कर सकते, वे बहुधा पुस्तकों का संग पसंद करते हैं। मित्रों एवं पुस्तकों के चुनाव में सदा गुणगौरव की ओर ध्यान रखना चाहिए। स्मरण रहे कि जो मित्र अथवा पुस्तक आप के विचारों को उन्नत कर सकती है वही आप के लिये योग्य है। पुस्तकें ऊँचे से ऊँचे मानसिक विचारों एवं कर्मों का दृश्य हमारे सामने उपस्थित करती हैं। उनमें मन लगाने से मनुष्यों में उन्नत भावों एवं आत्मनिर्भरता की अवश्यमेव वृद्धि होगी। कहा भी है कि "पुस्तकी भवति पंडितः"। जो लोग समाज में बहुत नहीं रहते वे पुस्तकों ही के प्रभाव से आत्म-निर्भरता-युक्त होते हैं। सामाजिक व्यवहारों में जो समय लगता है, उसे वे बचा लेते हैं और यदि चाहें तो उसका प्रयोजन अनेकानेक सद्विषयों की ज्ञान-वृद्धि में कर

सकते हैं। इतिहास हमको बतलाता है कि ऐसे ही लो
ने अनेकानेक नूतन आविष्कार अन्वेषणादि किए हैं।

संसार में सभी के लिये संग आवश्यक नहीं है। कहा
भी गया है कि एकांत महापुरुषों का पोषक एवं क्षुद्र जनों
का शोषक है। अपढ़ मूर्खों का चित्त एकांत में लग ही नहीं
सकता, क्योंकि विचार बलातीत होने से उनके लिये दूसरों
का आश्रय आवश्यक है। महापुरुष एकांत में होने से
भी संगहीन नहीं होते, क्योंकि उनके विचार ऐसे प्रबल
एवं दृढ़ हैं, कि उनका अस्तित्व संगियों के अस्तित्व के समान
हो जाता है। उधर क्षुद्र प्रकृतिवाले जीवों के विचार ऐसे
शिथिल होते हैं कि उनका होना न होना बराबर है। इसलिये
एकांत में पड़ने से वे वस्तुत: संगहीन हो जाते हैं और उन
का चंचल मन वायुमंडल में धावा मारता हुआ उन्हें कल से
बैठने नहीं देता।

जो लोग समाज में जितना ही बड़ा पद भोगते हैं
उनका प्रभाव समाज पर उतना ही अधिक पड़ता है। कहा
भी है कि "यथा राजा तथा प्रजा"। इसलिये जिसका
जितना पद है उसका उदाहरण संबंधी उतना ही बड़ा उत्तर-
दायित्व भी है। हर्ष का विषय है कि पाश्चात्य उन्नत देशों ने
इस समय आत्मनिर्भरता के विचारों का ऐसा पुष्टीकरण
किया है कि वहाँ राजा का भी अनुचित प्रभाव नहीं पड़ता,
यहाँ तक कि "यथा राजा तथा प्रजा" के स्थान पर वहाँ
"यथा प्रजा तथा राजा" की कहावत [illegible] भी

ानुचित उदाहरणों से भी अपना आचार भ्रष्ट न होने दें। ासंग महा प्रबल सिद्धांती का कुछ भी नहीं कर सकता। ाथा—

"विधि बस सुजन कुसंगति परहीं।
फणिमणि सम निज गुण अनुसरहीं।"

फिर भी यथासाध्य—

होत अकारथ लखहु काल निज लोगन संगा।
भूलिहु तिनको करहु कबहु जनि संग अभंगा॥

सातवाँ अध्याय।

अध्ययन।

अध्ययन जन्म से प्रारंभ होता है। बालक जन्म से एक ऐसी जगह आ जाता है कि जहाँ का वह कुछ भी नहीं जानता। उसको इतना भी बोध नहीं होता कि आग जलाती है और साँप काटता है। धीरे धीरे अनुभव द्वारा वह अपना ज्ञान बढ़ाता जाता है, यहाँ तक कि समय पर बिना एक अक्षर भी पढ़े वह संसार की सभी साधारण बातें जान जाता है। यह सब ज्ञान-प्राप्ति एक प्रकार से अध्ययन ही है। अध्ययन शब्द "ध्यै" धातु से निकला है, जिसका प्रयोजन अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान का है। यह अनुभव चाहे अपना हो चाहे पराया, किंतु दोनों द्वारा प्राप्त ज्ञान को अध्ययन ही कहेंगे। अपने अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान कुछ विशेष चिरस्थायी एवं लाभकारी होता है, किंतु यदि मनुष्य सारा ज्ञान अपने ही अनुभव द्वारा प्राप्त करे, तो उसके ज्ञान की मात्रा बहुत ही सीमा-संकुचित रहेगी। संसार में ज्ञेय वस्तुएँ प्रायः अनंत हैं, और मनुष्य का अनुभव एवं समय बहुत ही थोड़ा है। फिर यदि सभी लोग अपने ही अनुभवों द्वारा ज्ञान प्राप्त करें, तो संसार में ज्ञान-वृद्धि बहुत कम हो। यहाँ तो ज्ञान-प्राप्ति के प्रयत्न को जहाँ से एक छोड़ता है, वहीं से प्रारंभ कर के दूसरा उसे उसके आगे ले जाता है और इस प्रकार सहस्रों

मनुष्यों द्वारा प्रत्येक विभाग में अनंत ज्ञानवृद्धि होती है। फिर भी केवल दूसरों का अनुगामी पूरा पंडित नहीं हो सकता। पांडित्य के लिये आत्मानुभव, आत्म निर्भरता और स्वतंत्रता की भी आवश्यकता पड़ती है।

मनुष्य के वश में राज्य, प्रचुर धन, महा बल आदि प्राप्त करना सदैव नहीं है। इनके लिये भाग्य एवं आकस्मिक घटनाओं की भी आवश्यकता है। इधर पांडित्य का प्राप्त करना बहुत करके प्रत्येक मनुष्य ही पर निर्भर है। कहते ही हैं कि इसके लिये राजाओं के वास्ते भी कोई पृथक् मार्ग नहीं है। निरंतर कठिन परिश्रम एवं साधना ही इसका मूल कारण है। परिश्रम मनुष्य के लिये सदैव लाभकारी है। बिना इसके किसी प्रकार का वास्तविक महत्व प्राप्त नहीं होता। परिश्रम से भागना अपने महत्व को लात मारना है। उचित परिश्रम से किसी प्रकार का दैहिक अथवा मानसिक कष्ट नहीं हो सकता। कहते ही हैं कि मनुष्यबल का सड़ जाना सहज है किंतु घिस जाना कठिन। शक्ति का उचित प्रयोग करने से उसकी दिनों दिन वृद्धि होती है, न कि क्षीणता। हमारे जाने हुए दो विद्यार्थी एक ही कक्षा में पढ़ते और प्रायः साथ ही साथ बैठते थे। उनके निवासस्थान भी एक ही मुहल्ले में थे किंतु पढ़ने में एक महाशय अधिक मन लगाते थे और दूसरे कम। जब अध्यापक ने कक्षा की परीक्षा ली तब उनमें से परिश्रमी ने पचास में पैंतीस नंबर पाए और दूसरे ने [illegible] ...सद ने कहे आज हो [illegible] ...हुआ कि [illegible] कया इसके

तुम में पॅचगुनी बुद्धि है ?" फिर उन्होंने आप ही इस का उत्तर देकर कहा कि—"तुम दोनों में अंतर बुद्धि का नहीं परिश्रम का है।"

बहुत लोग जब चित्त न लगाने के कारण अथवा शि प्रणाली में कुछ दोष होने से विद्याध्ययन में समुचित उ नहीं कर पाते, तब समझते हैं कि हमारे पास बुद्धि की म कम है। यह विचार बहुत दशाओं में भ्रममूलक होता भाग्यदत्त बुद्धि की मात्रा विविध मनुष्यों में एक नहीं सकती। यही दशा स्वास्थ्य आदि की है। फिर भी आयुर्वेद के नियमों पर ध्यानपूर्वक एवं दृढ़ भाव से चल एक साधारण स्वास्थ्यवाला मनुष्य भी परम संतोषप्रद उन्नति कर सकता है और अपने से बहुत श्रेष्ठतर ऐसे भा दत्त शरीरवाले से जो कुपथ्य-सेवी है बहुत बढ़ कर सकता है, वैसे ही उद्यमी पुरुष भाग्यदत्त साधारण बुद्धि क्रमशः बहुत बढ़ा सकता है। वही लोहे का टुकड़ा तलव बनने से और भली भाँति रक्खे जाने से शीशे की भाँ चमकने लगता है और वही लापरवाही से रक्खा जा व मुर्चा खा जाने से कोयले के समान काला और तिनके समान टूटनेवाला हो जाता है। परिश्रम अध्ययन का जी है। बिना विद्या-प्राप्ति के मनुष्य और पशु में बहुत कम अंत रह जाता है। भारी धनाढ्यता मनुष्य को प्रायः आलसं बना देती है। इसी लिये पंडित लोग इसे अध्ययन का सहज शत्रु समझ कर इसका निरादर करते हैं।

* प्रत्येक मनुष्य में कुछ पशुता भी होती है ... जाता

णों के समान इसकी वृद्धि अथवा ह्रास भी मनुष्य की
छा ही पर निर्भर है। जो मनुष्य समुचित अध्ययन द्वारा
गों की उन्नति तथा अवगुणों की अवनति करता है, उसमें
का ह्रास होता जाता है, अन्यथा नहीं। संभावित पुरुष
उचित है कि यदि वह कोई व्यसन ग्रहण करे, तब भी
विद्या ही का होना चाहिए। विद्या से यहाँ केवल पुस्तक-
ज्ञान का तात्पर्य्य नहीं है वरन् सभी प्रकार की
नप्राप्ति इसी के अंतर्गत आ जाती है। समय का मूल्य
हुत बातों से अधिक समझना चाहिए। बिना समय का
चित प्रयोग किए अध्ययन आदि किसी सद्गुण का साधन
हीं हो सकता। फिर भी शक्ति के बाहर पढ़ना रोगोत्पादक
गा। सभी बातों के लिये समभाव उचित है। वैषम्य
देव हानिकर है। पढ़ना लिखना, खेलना कूदना, सब
छ यथासमय करना उचित है। औचित्य का सीमो-
घन किसी दशा में भी न होना चाहिए। जैसे अन्य बातों
हम वैविध्य की प्रशंसा तथा आनिर्युत्य की निंदा करते आए
, वही दशा अध्ययन की भी है। मनुष्य को विविध विषयों
में ज्ञान प्राप्त करना उचित है। एक ही बात पर उतारू हो
जाना मानसिक उन्नति को रोक कर मनुष्य को गूलर फल-
वाले भुनगे के समान बना [illegible] समय पढ़ना

भुला देना चाहिए। जब जो कुछ करो तब उसी में
मन लगाओ। एक कार्य्य करने के समय दूसरे का वि
भी चित्त में न आना चाहिए। एकाग्र भाव एक बहुत ब
मानसिक बल है। यही प्राणायाम का मूल और योग
बंधु है। गीता में भगवान् ने आज्ञा दी है कि—

"योगः कर्म्मसुकौशलम्।"

अतः कर्म्मों में कुशलता ही योग है। जो का
करे उसी को पूर्ण उत्साह के साथ करे। जब तक उसे कर
जाय तब तक उससे अप्रसंगी कोई भाव तक चित्त में
उठने पावे। जो इस प्रकार का काम कर सके वही योगी है
इसी से कहा गया है कि संसार में सच्चे योगी के लिये क
भी वस्तु असंभव नहीं है।

संसार में ज्ञान की उत्पत्ति आश्चर्य्य से है। जब क
मनुष्य किसी वस्तु, विचार आदि को देखता सुनता है औ
उसे नहीं जान पाता, तब उसके चित्त में या तो आश्चर्य्य क
भाव उदित होगा अथवा उदासीनता का। उदासीनता के बराब
हानिकारक कोई भी भाव संसार में नहीं है। यह विद्
उन्नति आदि सभी सुगुणों की बाधक है। अज्ञानी के लि
उदासीनता से इतर दूसरा भाव आश्चर्य्य का है। कि
अज्ञात पदार्थ को देख कर मनुष्य को बहुत कुछ सोचन
चाहिए। इसके क्या गुण दोष हैं, यह क्योंकर बना, क्यों
बना, इसके अस्तित्व का क्या कारण है, इसके अनास्तित्व
से क्या हानि अथवा लाभ है, इत्यादि इत्यादि अनेकानेक
प्रश्न प्रत्येक अज्ञात वस्तु के विषय में उत्पन्न होते हैं।

मूर्ख लोग बहुत से पदार्थों को उपहासास्पद समझते हैं। संसार में कुछ पदार्थ उपहासास्पद भी होते हैं, किंतु बहुतायत से नहीं। बहुत वस्तुओं का बाहरी भाव सहसा हँसने योग्य समझ पड़ता है, किंतु भीतर घुस कर ध्यानपूर्वक देखने से उसी में कर्त्ता का भारी चातुर्य्य दिखाई देने लगता है। इसलिये जो लोग अनेकानेक वस्तुओं को भोंदी बेडौल, और निंद्य समझते हैं, वे बहुधा ऐसे विचारों से अपनी ही मूर्खता को प्रकट करते हैं। ईर्षा, मोह, अहंकारादि के कारण बहुत से लोग परगुण-निरीक्षण में अंध होते हैं। जिस किसी को संसार में अधिकांश लोग एवं पदार्थ अश्लाघ्य समझ पड़े उसे जानना चाहिए कि स्वयं उसी में कोई दोष है न कि सब पदार्थों में।

अध्ययन कैसे किया जाय यह एक चिंतनीय विषय है। अध्ययन एक प्रकार से भोजन के समान है। जैसे बहुत कुछ खा लेने से अपच हो जाता है और कुछ भी न खाने से थोड़े ही दिनों में मरणावस्था उपस्थित होती है, वैसा ही अध्ययन का हाल है। कुछ भी न पढ़ने से मनुष्य पूरा मूर्ख रहता है, और उचित से अधिक ग्रंथावलोकन से वह ग्रंथों के भावों का आत्मीकरण नहीं कर सकता। ऐसे ही लोगों के विचार तथा सम्मतियाँ स्वयं उनकी नहीं, वरन् औरों की होती हैं। वे समझते हैं कि हम अपनी सम्मति प्रकट कर रहे हैं किंतु वास्तव में वे जानते हुए अथवा न जानते हुए दूसरों की चोरी किया करते हैं। उन्होंने इतने पराए विचार अपने में भर लिए हैं कि वे उन पर पूर्णतया मनन कर के उन्हें अपना नहीं

बना सकते। फिर भी जब ऐसे विचार-बहुभक्षी लोग सिद्धांतों का अपने कथनों में दूसरे प्रसंग में प्रयोग करते हैं तब आत्मीकरण के अभाव से उनका बहुधा दुरोपयोग हो जाता है। ऐसे ही कथनों पर जब अटल तार्किक सिद्धांतों के अनुसार सूक्ष्म दर्शिता से विचार किया जाता है तब उनका एक एक अक्षर भूसी के समान उड़ जाता है और मन भर के गट्ठर में एक भी अनाज का दाना नहीं निकलता। ऐसे ही विचारों में प्रतिकूलता-पोषण बहुतायत से होता है। जब मनुष्य कोई सारगर्भित नवीन भाव पावे तब उसे उचित है कि अपने प्राचीन विचार-समुदाय में उस भाव को स्थान देने के पूर्व सोच ले कि वह कितनों के प्रतिकूल और कितनों के अनुकूल पड़ता है। प्रतिकूलता की दशा में दोनों पर ध्यान दे कर निर्णय कर लेना चाहिए कि उनमें से कौन ग्राह्य है और कहाँ तक। नवीन और प्राचीन विचारों में थोड़ा सा भी विरोध होने से ध्यानपूर्वक निर्णय करके उनका संशोधन कर लेना चाहिए। जब किसी नए विचार का प्राचीन भाव से मिलान करके पूरा निर्णय हो कर एक बात निश्चित रह जाती है, तभी कहा जा सकता है कि नवागत विचार हजम हुआ, अर्थात् अपना हो गया। जो लोग बिना ऐसे आत्मीकरण के नए विचार ग्रहण करते जाते हैं, उनका मानस शरीर बहुभक्षी लोगों की देहों के समान कभी स्वास्थ्ययुक्त नहीं रह सकता। जो लोग अपने प्राचीन विचारों को नवीन भावों की वृद्धि द्वारा दृढ़तर बनाते हुए दिनों दिन उन्नतिशील नहीं रखते उनका मानस-शरीर दुबला और [illegible] हो

ाता है। बहुत से लोग साधारण बातों, व्याख्यानों, एव धनिर्माण द्वारा अपने विचार औरों पर बहुतायत से प्रकट क्या करते हैं। ऐसी प्रगल्भता से प्रायः प्रतिकूल विचारों ा पुष्टीकरण हो जाता है और कथनों में सारगर्भिता की ात्रा बहुत कम होती है। उपदेशकों को संक्षिप्त गुण का अवश्य ध्यान रखना चाहिए, नहीं तो उनके कथनों में केवल र्खमोहिनी विद्या रह जाती है।

अध्ययन दो प्रकार का होता है, अर्थात् साधारण और दैनिक व्यापार संबंधी। यह प्रकट ही है कि मानसिक उन्नति के लिये व्यापारिक शिक्षा से साधारण शिक्षा बहुत श्रेष्ठतर है। फिर भी विना व्यापारिक शिक्षा के काम नहीं चल सकता। मानासिक,उन्नति के प्रतिकूल प्रायः प्रत्येक व्यापार में खास खास बुराइयाँ होती हैं। संभावित को इन पर सदैव ध्यान रखना चाहिए, जिससे कि वह मानसिक उन्नति का अवरोध न कर सके। प्रायः देखा गया है कि जो लोग जिस व्यापार में पड़ते हैं, वे अपने आह्निक अवकाश में भी सभा सोसाइटियों में बैठ कर उसी की बातें किया करते हैं। इसका उल्लेख "संग" वाले अध्याय में हो चुका है। चतुर मनुष्य को अवकाश के समय में मेड़ुवा गोजई का भाव न सोच कर, ऐसे विषयों की ओर चित्त लगाना चाहिए, जिनकी उसके व्यापार संबंधी आह्निक कर्त्तव्यों में कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। मनुष्यों को अंधवत् एक ही लीक पर अनुगमन करने से बचना चाहिए।

अध्ययन का मूल दो प्रकार का होता है, अर्थात् स्वाव-

लंबी और परावलंबी, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। स्वावलंबी अध्ययन अपने ही अनुभवों एवं विचारों से प्राप्त होता है और परावलंबी अध्ययन पुस्तकों, गुरुओं और मित्रों आदि पर आश्रित है। स्वावलंबी अध्ययन में ज्ञान वृद्धि के लिये कुछ अधिक समय दरकार है, किंतु वह बहुत पक्का होता है। संसारीपने की कार्य्य-कारिणी बुद्धि स्वानुभव से ही विशेषतया प्राप्त होती है और बिना स्वावलंबी ज्ञान के केवल परावलंबी अध्ययन से पूर्ण मानसिक उन्नति नहीं हो सकती। दोनों प्रकार के अध्ययनों में विद्यार्थी को कक्षा-विभाग पर विशेष ध्यान देना चाहिए। प्रत्येक वस्तु को ध्यानपूर्वक देख कर अथवा उसके विषय में सुन कर और वस्तुओं से उसकी समता और असमता पर पूर्ण विचार करो। जो वस्तुएं जहाँ तक समान हों उनको जानो, और फिर समान वस्तुओं के सूक्ष्म से भी सूक्ष्म अंतर को बुद्धि-बल से खोज निकालो। प्रकृति ने समानता और अंतर का ऐसा विचित्र बनाव रक्खा है, कि इस पर जहाँ तक मनन करो वहाँ तक ज्ञान विस्तीर्ण होता जाता है। संसार में अरबों मनुष्य प्रस्तुत हैं, और उनके शरीर सांगोपांग समान है, किंतु फिर भी कोई दो मनुष्य ऐसे न मिलेंगे जिनकी बनावट एक दूसरे से बिलकुल मिलती हो। तत्वज्ञानियों ने ध्यानपूर्वक निरीक्षण द्वारा जाना है कि संसार में प्रकृति जीवधारी की रचनाशक्ति के प्रदर्शन में पुनरुक्ति कभी नहीं करती, यहां तक कि कोई दो पत्ती अथवा दूब के पौंड़े तक एक दूसरे से बिलकुल समान कभी नहीं होते। ऐसी समता एवं भिन्नता का ज्ञान भारी सूक्ष्मदर्शिता से ही प्राप्त होता

है। इस शक्ति को बढ़ाने के लिये मनुष्य को सभी ठौर समता और भिन्नता पर ध्यान देना चाहिए। अधिक से अधिक पदार्थों को ध्यानपूर्वक देखते जाइए और तब आप की अधिकाधिक ज्ञानवृद्धि होगी। अजायबघर, जंगल, बाग़, मैदान, ग्राम, नगर, पत्तन, झील, समुद्र, नदी, नाले, पहाड़ आदि सभी कुछ ध्यानपूर्वक देखो, और विचारो कि किस किस पदार्थ मे क्या क्या शिक्षा मिल सकती है। आँखवाले अंधों के समान कभी काम न करो। जहाँ जाओ दोनों आँखें खोले रहो। किसी वस्तु को देख कर यह सदैव सोचो कि यह ऐसी क्यों है, किसी अन्य प्रकार की क्यों नहीं? इसके रचयिता ने इसे यहाँ किस विचार से रक्खा। रास्ता चलने में भी विचारते रहो कि अमुक पगडंडी की वर्तमान स्थिति उसी प्रकार से उसी स्थान में क्यों हुई। एक छोटा सा कंटकित पौधा भी यदि मार्ग में पड़ जाता है तो पगडंडी उसके कारण हाथ भर मुड़ जाती है। कोई पथिक साधारणतया उसे उखाड़ कर फेंक सकता है अथवा जूते की ठोकर से कुचल सकता है, किंतु पथिक लोग प्रायः इतना कष्ट उठाते देखे नहीं गए हैं। विदेशों में रेल पर यात्रा करने में अन्य बातों पर उतना ध्यान न देकर मनुष्य का देश की झलक देखनी चाहिए। इससे उस प्रांत के निवासियों के बहुत से स्वभाव सहज ही में ज्ञात हो जाते हैं। सारांश यह है कि यथासाध्य सभी नवीन बातों में तार्किक सिद्धांतों का ध्यान कभी न भूलो। तर्कशास्त्र कोई नवीन बात नहीं बतलाता, किंतु साधारण अनुभवों द्वारा ज्ञानप्राप्ति

के उसमें ऐसे सुंदर नियम मिलते हैं, जो नेत्रों को नेत्र औ
कानों को कान बनाते हैं।

परावलंबी ज्ञान-प्राप्ति में पुस्तकों और गुरुओं की प्र
नता है। यदि कोई बात ज्ञात न हो, तो उसके पूछने में कं
संकोच न करो। भगवान् दत्तात्रेय ने मकरी-आदि
जंतुओं को भी अपना गुरु कर के माना था। गुरुओं एवं पुस्त
के कथनों को भी अंधपरंपरा की रीति से कभी न मान
कहा भी है कि—

नहिं प्रमाण करि श्रवण अंध सम ताकहँ मानौ।
ताके कारण खोजि बुद्धि बल सों अनुमानौ॥

गुरुओं और पुस्तकों में भी परमोच्च मानसिक उन्न
संयुक्त लोगों एवं उनकी रचनाओं का आश्रय लो। परमो
ग्रंथों के भी परमोच्च विचारों पर ध्यान दो। ग्रंथों के प
में पूर्ण बुद्धि व्यवसाय से काम लेना चाहिए और एक पॉकि
तथा जेबी कोष-ग्रंथ तो ग्रंथ अखबारों तक के पढ़ने में अपने पा
रखना उचित है। कोष के पास होने से छोटे से छोटा संद
तुरंत निवृत्त हो जाता है और ज्ञान-वृद्धि में बहुत अच्
सहायता मिलती है। अंग्रेजी शब्दों में बहुधा अक्षरों औ
उच्चारणों में बड़ा अंतर होता है। ऐसी दशा में हम विजाती
लोगों को उच्चारण संबंधी कष्ट से छुटकारा पाने के लिये प
छोटा कोष-ग्रंथ अवश्य पास लगाए रहना चाहिए। ऐसे प्र
से समय पर बड़ी सहायता मिलती है। पुस्तकाध्यय
में पेंसिल का प्रयोग भी बेधड़क होना चाहिए। कोई नवी
---- में जो अपने भाव उठें उन्हें भी यथास्थान अंकि

र दो। कोई ग्रंथ पढ़ कर यह अवश्य निश्चय कर लेना
ाहिए कि यह दूसरी आवृत्ति के योग्य है या नहीं। अच्छे
च्छे ग्रथों की कई आवृत्तियाँ होनी चाहिएँ।

पढ़ने में अपने प्रिय विषय पर विशेषता अवश्य रक्खे,
कंतु अन्य विषयों का तिरस्कार कभी न करे। कहा ही है
के विद्वान को कुछ का सब कुछ और सबका कुछ कुछ अवश्य
गानना चाहिए। विना इसके वैविध्य लुप्त हो कर आनिर्वृत्य
आ जाता है। मनुष्य को सभाचातुर्य्य और ज्ञानगरिमा
वैविध्य से ही प्राप्त होती हैं। अपने ऊपर उचित से अधिक
विश्वास और अविश्वास कभी न करे। ये दोनों विफलता
के मूल कारणों में से हैं। अपने साधारण अनुभव से हम
ऐसे महापुरुषों के चरित्रों से अच्छे उदाहरण प्राप्त कर
सकते हैं, वैसे ही जीवनचरित्र भी श्रेष्ठ उदाहरण प्रदर्शन
द्वारा हमें भारी लाभ पहुँचा सकते हैं। रामायण और महा-
भारत में राम और युधिष्ठिर के अतिरिक्त भी बहुत से अच्छे
अच्छे उदाहरण मिलते हैं। जीवनचरित्रों में व्यक्तित्व की
मुख्यताओं का होना परमावश्यक है, यहाँ तक कि उसमें
दोषों का भी कथन होना चाहिए, नहीं तो उदाहरण बहुत
ऊँचा उठ जाता है और साधारण मनुष्यों को समझ पड़ने
लगता है कि उसका अनुकरण असंभव है।

मनुष्य को किसी न किसी कला का भी पारगामी होना
चाहिए। पियानो, हारमोनियम, अलगोजा, सितार, जलतरंग
आदि अनेकानेक वाद्य तथा गाना, नाचना आदि बहुत से
सामाजिक मनोरंजन हैं। इनमें से कुछ भी न जाननेवाला

मनुष्य समाज में आदर नहीं पा सकता। साहित्य का जानना बहुत अच्छा होता है। ऋषिवर महात्मा भर्तृहरि ने कहा भी है—

"साहित्य-संगीत-कला-विहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः।
तृणन्नखादन्नपि जीवमान-
स्तद्भागधेयं परमं पशूनाम्॥

बहुत से लोग हुनर की उन्नति को जातीय अवनति से मिला कर उसकी निंदा करते हैं। वे लखनऊ और दिल्ली की राजसभाओं को इसका उदाहरण बतलाते हैं। कलाओं से जब इंद्रियलोलुपता मिला दी जाती है, तब ऐसे बुरे उदाहरण देख पड़ते हैं। हुनर की वृद्धि अवश्य करनी चाहिए, किंतु इंद्रिय-संयम पर भी पूर्ण ध्यान रखना प्रत्येक सुधी को उचित है। प्रत्येक मनुष्य के लिये किसी न किसी लक्ष्य का होना आवश्यक है। बिना इसके न तो समुचित उन्नति हो सकती है और न आनंद ही प्राप्त होता है। जो कोई केवल आनंद ढूँढ़ना चाहता है, उसका मनोरथ कभी सफल नहीं होता, क्योंकि मनुष्य के लिये केवल आनंद कुछ है ही नहीं। जिस पदार्थ को पसंद करके मनुष्य उसमें मन लगाता है, उसी की प्राप्ति में आनंद है।

आठवाँ अध्याय।

स्वतंत्रता।

संसार में स्वतंत्रता सब को प्रिय है और एक प्रकार से
का इस पर सहज अधिकार है। ईश्वर ने सब को
त्र उत्पन्न किया है और उसकी प्राकृतिक उदारताओं
लाभ सब लोग सम भाव से उठा सकते हैं। उसने किसी
विशेष के लिये कोई विशेष वस्तु नहीं बनाई, वरन्
के लिये सब कुछ बनाया है। भगवान् श्रीकृष्णचंद्र ने
न वर्णन में बहुत अच्छा दाक्षिण्य भाव दिखलाया है—

" निज निज रुचि के लेहु चुनि फूल सबै सुखसार।
इमि कहि कान्ह कदंब की हरषि हलाई डार॥ "

दाक्षिण्य भाव अनेक प्रेमपाशों के समान सत्कार में
है। यही दाक्षिण्य भाव ईश्वर में सब से अच्छा देख
ता है।

आज कल कुछ लोगों ने स्वतंत्रता का विचार बहुत करके
नैतिक भाव में सीमाबद्ध कर रक्खा है, किंतु ऐसे संकु-
की कोई आवश्यकता नहीं है। राजा के लिये भी दाक्षिण्य
आवश्यक है, और इस प्रकार राजनैतिक स्वतंत्रता भी
तंत्रता के विषय का एक अंग है—किंतु है वह अंग मात्र ही।
ारा अभीष्ट यहाँ स्वतंत्रता के अंग अथवा उपांग कथन का
हीं है, वरन् दार्शनिक सिद्धांतों के अनुसार हम इस पूर्ण विषय

पर विचार करेंगे। सब को स्वतंत्र होने का सहज अवश्य प्राप्त है, किंतु संसार के सभी जीवों को निः शांतिपूर्वक यहीं रहना है। इसलिये यदि प्रत्येक जीव को मनमानी घरजानी का अधिकार मिले तो संसार ही दिनों में नष्ट हो जाय। अतः प्रत्येक मनुष्य की शुद्ध स्व त्रता वही है जिससे किसी की उचित स्वतंत्रता में बाधा पड़े। इस नरलोक में मनुष्यों से इतर भी असंख्य जीव धारी रहते हैं, किंतु मानसिक उन्नति में सब मनुष्यों से असंख्य गुण पीछे हैं। उनमें इतनी विचारशक्ति नहीं है कि अपनी एवं दूसरों की स्वतंत्रताओं पर ध्यान देकर शु नियमों पर चलते हुए संसार की यथोचित उन्नति कर सकें। वे या तो दास भाव से रहेंगे, अथवा शत्रु हो कर। स्वतंत्र पर वे निष्कारण भी प्रहार कर बैठते हैं। इसलिये मनुष्यों ने उन्हें दास भाव में रखना उचित समझा है। उनके अधिकार का इतना ही सत्कार अलम् है कि उनको कोई अनुचित दुः न दिया जाय।

मानुषीय स्वतंत्रता का संसार में विशेष सत्कार है क्योंकि मनुष्य सब कुछ जानने और समझने के योग्य है। सब की स्वतंत्रता अक्षुण्ण रूप से स्थिर रखने के विचार से मनुष्यों ने राजदंड संबंधी अनेकानेक नियम, उपनियम बना रक्खे हैं। इनके अतिरिक्त सभ्यतापूर्वक रहने के लिये अने कानेक अन्य नियमों की भी आवश्यकता है। जो नियम समाज के लिये बहुत ही उत्तम समझे गये हैं, वे अब दृढ़तापूर्वक स्थापित हैं। इन्हीं को [illegible] । [illegible]

के देशों में लोगों की उन्नति, सभ्यता, एवं आवश्यकताओं के अनुसार ये नियम कुछ कुछ पृथक् भी होते हैं, किंतु इन सब का प्रयोजन एक ही होता है, अर्थात् यह कि समस्त देशवासी आपस में शांतिपूर्वक रह कर दिनों दिन अधिकाधिक उन्नति करें। वास्तव में ये सब नियम व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बाधक हैं, किंतु बिना इनके काम चल नहीं सकता, क्योंकि व्यक्तिगत स्वतंत्रता का उचित से अधिक स्वीकार करने से सामाजिक स्वतंत्रता नष्ट होती है।

जो नियम सामाजिक स्वतंत्रता के रक्षणार्थ परमावश्यक हैं, उन्हें कानून अथवा राष्ट्रीय नियम कह सकते हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक देश अपनी स्थिति, जलवायु, इतिहास आदि के अनुसार खाने पीने, उठने बैठने, मिलने, जुलने, धर्म्म कर्म, रहन सहन, आदि के विषय में अनेकानेक नियमोपनियम बनाता है, जिन्हें सामाजिक नियम कह सकते हैं। समाज बहुधा राष्ट्रीय नियमों के प्रतिकूल चलने पर उतना क्रुद्ध नहीं होता जितना कि सामाजिक नियमों की प्रतिकूलता पर। राष्ट्रीय नियम राजा द्वारा घटाए बढ़ाए भी जा सकते हैं, किंतु सामाजिक नियम बहुधा शताब्दियों वरन् सहस्राब्दियों तक जैसे के तैसे बने रहते हैं। कुछ तो सामाजिक नियम अच्छे होते हैं, किंतु बहुधा वे अनावश्यक भी हैं। कोई मनुष्य गर्मी के महीने में यदि केवल एक महीन कुरता पहन कर समाज में सम्मिलित हो, तो प्राकृतिक नियमानुसार कोई हानि नहीं है, किंतु फिर भी समाज ऐसे मनुष्य को असभ्य कह कर उसका उपहास अवश्य करेगा। और

यह कहे कि मुझे ऐसा ही वस्त्र पसंद है, तो भी समाज पागल समझने से न हिचकेगा। वस्तुतः समाज व्यक्ति से जाने हुए बड़ी ही विकराल शत्रुता रखता है। ऐसे व पहनो, इस प्रकार से भोजन करो, यों पूजन करो ऐसे विचार उपहासास्पद हैं, इत्यादि, इत्यादि असंख्य समाज में प्रचलित हैं। उनसे प्रतिकूलता करने मनुष्य सामाजिक दंड का भागी होता है। बहुत से सामाजिक विचारों का दासत्व सज्जनता का मुख्यांग मानते हैं। उन्हें अपने व्यक्तित्व से हाथ धोने में तनिक संकोच नहीं होता। वे नहीं समझते कि समय पर एक भी अपनी स्वतंत्रता दिखलाए बिना नहीं रहता, किंतु मनुष्य होकर भी बाबू समाजदास की उपाधि पाने लिये लालायित हैं।

बहुत से लोग तो ऐसे मूर्ख होते हैं कि किसी के प नाव ओढ़ाव, रहन सहन, आदि में छोटे से छोटा भी प वर्त्तन देख कर बिना कुछ कहे उन से रहा नहीं जाता। क जनाब! आपने मोछें क्यों बनवा डालीं? अहा! अब आपने कलमें बहुत बड़ी बड़ी रखवा लीं? ओहो यह डा कितनी बड़ी बढ़ाते चले जाइएगा? जनाब! आप चोटइया भी गजब है। कटावोगे भी इसे, इत्यादि, इत्या सैंकड़ों अनावश्यक प्रश्न तथा कथन समाज में किए जा हैं। असभ्य पुरुष ऐसे कथनों के साथ बहुत आक्षेप मिला देते हैं। यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि स्वतं त्रता मनुष्य का न केवल सहज अधिकार है, वरन् उस

ी मानसिक उन्नति के लिये भी परमावश्यक है। बिना
वतंत्र व्यक्तित्व एवं शुद्धाचरण के कोई जाति सबल नहीं
ो सकती। प्रत्येक सुधी का कर्त्तव्य है कि औरों के अना
ावश्यक विचारों का लेशमात्र सत्कार किए बिना अपने शुद्ध
ंकल्पों पर अनुगमन करे। प्रबल स्वातंत्र्य भारी मानसिक
ल का एक बहुत अच्छा साक्षी है। शंकर स्वामी, महात्मा
ुद्ध, महर्षि दयानंद आदि ने उच्चाशयपूर्ण स्वतंत्रता ही को
दिखला कर संसार को पवित्र एवं निष्पाप बनाया। यदि ये
महाशय भी समाजदास होते, तो भारत की आज न जाने
क्या दशा होती। समाज क यह प्राकृतिक नियम है कि
वह प्रायः प्रत्येक परिवर्तन के प्रतिकूल रहता है। तथापि
सुधी पुरुष भली भाँति जानते हैं कि स्थिरता सड़ना है।

यह निर्विवाद है कि प्रत्येक पुरुष बाबा नानक अथवा
लूथर नहीं हो सकता। यदि प्रत्येक मनुष्य सहस्रों वर्षों से
स्थापित उचित नियमों का साधारणतया उल्लंघन कर सके,
तो उच्छृंखलता का दोषी हो कर समाज थोड़े ही दिनों में
नष्ट हो जाय। फिर भी प्रत्येक मनुष्य का धर्म है कि, वह
विचारशक्ति का पूर्ण सदुपयोग कर के उसकी दिनों दिन
; एवं अशुद्धताओं से बचे। जो लोग अपनी विचार-
उसुचित काम नहीं लेते, वे पशुओं से थोड़े ही
है। मनुष्य को व्यवहार ही के निमित्त
गई है। का आश्रय न ले कर बिना विचारे
सरों की गमन करते हैं वे पराबलंबी मूर्ख
स्वभ के ते हैं जो नाथ के सहारे किसी ओर

जोता जा सकता है। नाथ का मुख जिधर करके उन्हें
चाबुक मार दो वे बचारे उसी ओर चल देंगे। उनको
बात से प्रयोजन नहीं कि आप को कहाँ और कितनी
जाना है। जहाँ तक उनमें बल है वहाँ तक वे नाथ
कोड़े की आज्ञा मानते हुए चले जावेंगे, और जब
पराक्रम हो जावेंगे तब चाहे आध मील ही क्यों न
शेष हो, वे जुए को फेंक कर सड़क पर लेट जाँयगे,
कोड़ों से काट दिए जाने पर भी न उठेंगे। इसीलिये
गया है कि जो लोग अपनी सम्मति स्थिर करने का
नहीं करते वे कादर हैं। जो सामर्थ्य होने पर भी
स्थिर नहीं करते वे आलसी हैं और जिनमें सम्मति
करने का सामर्थ्य नहीं है वे मूर्ख हैं। अतः प्रत्येक
लंबी पुरुष इन तीनों उपाधियों में से एक अवश्य पाता

देशाचार, कुलाचार, अभ्यास आदि की व्यक्ति
सहज शत्रुता है। जिन जातियों का भूतकालिक
गरिमापूर्ण रहा है और जिनमें बड़े बड़े विचारवान
होते आए हैं उनका सामाजिक जीवन भी उच्च और साहित्य
पूर्ण होता है। संसार में सदैव देखा गया है कि बुराई
फल बुराई होती है और भलाई का भलाई। जो जा
जितनी कम विदुषी एवं विचाराश्रयी होती हैं, उनके
में सहिष्णुता की मात्रा उतनी ही कम देख पड़ती है।

हमारे यहाँ बहुधा कहा जाता है कि प्राचीन प्रथ
कभी न छोड़ना चाहिए, क्योंकि क्या हमारे जिन पूर्व
ने उनकी स्थापना की थी, वे मूर्ख थे। इस कथन की

सिद्धांतों से समालोचना की जाय, तो इसका कोई
युक्तिसंगत न ठहरेगा। यह कथन मान लेता है
पूर्वपुरुषों ने हम में इस समय प्रचलित प्रत्येक
स्वतंत्रता एवं दृढ़तापूर्वक विचारानंतर बिना किसी
उसे लाभदायिनी समझ कर सदा के लिये देश में
कर दिया। जब तक उपरोक्त सब बातें न मानी जावें
किसी प्राचीन रीति को इस समय के लिये अग्राह्य
पूर्वपुरुषों का अपमान नहीं है। फिर भी विचार-
करने से प्रकट होगा कि उपरोक्त युक्तिसमुदाय में
कथन ठीक नहीं है।

के लिये कोई भी मनुष्य नियम नहीं बना सकता।
समय पर समाज की आर्थिक, व्यापारिक, मानसिक,
क आदि अवस्थाएँ जैसे जैसे बदलती जाती हैं, वैसे
उसके लिये नियम-परिवर्तन की भी आवश्यकता
। फिर बहुत से आचार किसी समय किसी विशेष
से बचने के लिये मान्य समझे जाते हैं। जब उस
का दोष जाता रहे, तब उसी आचार को सत्कारित
हानि सहते जाना अनावश्यक है। इसका उदाहरण
यहां स्त्रियों को परदे में रखना है। एक यह भी
नीय बात है कि देशाचार को बहुधा कोई व्यक्ति-
स्थापित नहीं करता, वरन् समाज की तात्कालिक
के अनुसार वह सब के द्वारा आप से आप स्थापित
ता है। देश-दशा के परिवर्तनों पर आचारों के भी
न आवश्यक हैं, नहीं तो—

"तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः
क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति।"

वाली कहावत चरितार्थ होगी। फिर कौन से पूर्वपुरुषों
बातें मानी जावें ? वैदिक कालवालों की, अथवा स्मार्त
वालों की, या पौराणिक समय की या अंधकाराच्छन्न पि
पांच सात सौ वर्षवालों की ? हमारे सभी समय के प
पूर्वपुरुषों ने उन्हीं बातों को अच्छा नहीं बतलाया है
न एक ही प्रकार की शिक्षा दी है। इसलिये सभी बातों
उन्नतियों के लिये कुछ आत्मनिर्भरता भी आवश्यक होगी
सब बातों यह है कि संभावित को मना
दासत्व से बचते हुए अपने उचित विच
और मानसिक बल को

" तातस्ये कूपाऽयमिति ब्रुवाणाः
क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति।"

वाली कहावत चरितार्थ होगी। फिर कौन से पूर्वपुरुषों की बातें मानी जावें? वैदिक कालवालों की, अथवा स्मार्तकाल वालों की, या पौराणिक समय की या अंधकाराच्छन्न पिछले पांच सात सौ वर्षवालों की? हमारे सभी समय के सभी पूर्वपुरुषों ने उन्हीं बातों को अच्छा नहीं बतलाया है और न एक ही प्रकार की शिक्षा दी है। इसलिये सभी बातों और उन्नतियों के लिये कुछ अत्मनिर्भरता भी आवश्यक होती है।

सब बातों का तात्पर्य्य यह है कि संभावित को समाज दासत्व एवं उच्छृंखलता से बचते हुए अपने उचित विचारों पर अनुगमन करना चाहिए, और मानसिक बल को तिलां जलि दे कर परावलंबन को ही सज्जनता का भूषण समझना उचित नहीं है।

नवाँ अध्याय ।

कर्त्तव्य और आज्ञापालन ।

कर्त्तव्य संसार में सब से अधिक विचारणीय विषय है । क जीवधारी हर समय न चाहते हुए भी कोई न कोई े किया ही करता है । यदि हाथ पैर से कोई काम न करे भी आँख कान आदि से सैकड़ों पदार्थ देख सुन पढ़ा करते और किसी प्रकार से इन के कर्म्मों का अवरोध कर लेवे भी मन दौड़ा करता है। इसकी चालों के रोकनेवाले ार में बहुत कम लोग हैं। सिवा महान् योगियों के इस गति कोई नहीं रोक सकता । गीता में क्या ही ठीक कहा ा है कि—

मन चंचल बलवान प्रमाथी है दृढ़ भारी ।
इसका निग्रह गुनौ मरुत-बंधन-अनुहारी ॥
किंतु किये अभ्यास तथा वैराग्य विधाना ।
हो सकता है स्ववश जगतविजयी जग जाना ॥

फिर योगी लोग भी जब तक समाधि लगाए रहते हैं, भी तब तक मन का निग्रह कर सकते हैं, इसके पीछे नहीं । माधि छोड़ते ही उनका भी मन दौड़ने लगता है । समाधि ी अवस्था में भी शरीर में रुधिर सञ्चालनादि की प्राकृतिक ्रियायें हुआ करती हैं जिन्हें गीता ने अकर्म्म कहा गया है । तः स्पष्ट हुआ कि जीवितावस्था में प्रत्येक शरीरी चाहते

अथवा न चाहते हुए सदा कोई न कोई काम अवश्य कि
करता है। जब काम का करना अनिवार्य्य है तब यह ज्ञान
परमावश्यक है कि सुधी को कैसे कर्म्म करने चाहिएँ। इ
ज्ञान को कर्त्तव्यशास्त्र कहते हैं। भगवान् ने गीता में स
ही खूब कहा है कि, "कोई एक क्षण भी बिना कर्म किए न
रह सकता और न चाहते हुए भी प्राकृतिक गुणों से
करता है। इसलिये कर्म, विकर्म और अकर्म सब को जान
चाहिए क्योंकि कर्म की गति गहन है।"

गीता के अनुसार अकर्म ही विकर्म अर्थात् उचित का
है। जो काम अपनी कामना-शांति के लिये अथवा स्वार्थ
किया जाता है वह गीतानुसार कर्म है। इससे इतर का
अकर्म हैं। यथार्थ में अकर्म ही को कर्तव्य समझना चाहि
क्योंकि वह प्राकृतिक गुणों अथा परहित के लिये किया जा
है। धार्मिक संसार में अधिकार है ही नहीं। वहाँ तो के
कर्त्तव्य ही कर्त्तव्य हैं। फिर भी साधारण संसारी मनुष्यों
लिये केवल अकर्म करने से काम न चल सकने की आप
है। इसलिये गृहस्थ लोगों के वास्ते कर्त्तव्यशास्त्र की सी
अकर्मों से कुछ आगे बढ़ानी आवश्यक है। गीता के
अनुसार तो—

यस्य सर्वे समारम्भा काम-संकल्प-वर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणि तमाहुः पंडितं बुधाः॥

(जिसके सब उद्योग स्वार्थ की कामना से मुक्त हैं और
जिसके सब कर्म ज्ञानाग्नि में जल गए हैं उसे पंडित कहते
हैं।) फिर भी पंडित का इतना ऊँचा लक्षण रख कर हम

लोगों की संसार-यात्रा नहीं चल सकती। केवल अकर्म से कर्मयोगी का निस्तार हो सकता है, साधारण गृहस्थ का नहीं। इसलिये अब संसारिक विचारों से भी कर्त्तव्य का विचार किया जाता है।

कर्त्तव्य का शाब्दिक अर्थ है करणीय कार्य्य। अतः जो कुछ करने के योग्य है अथवा जिसका करना उचित है उसी को कर्त्तव्य कहते हैं। मनुष्य के लिये सब से अधिक आवश्यक कार्य्य उचित प्रकार से जीवन-यात्रा करनी है। चाहे अपनी इच्छा से हो चाहे पराई से, किंतु किसी प्रकार हम लोग इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं, अतः हमारा पहला कर्त्तव्य यही है कि जितने दिन मनुष्य उचित प्रयत्न से शरीर धारण कर सकता है, उतने दिन यहाँ सुखपूर्वक बिना किसी को अनुचित कष्ट पहुँचाए रहें। प्रत्येक मनुष्य को अपने वास्तविक कर्म वैसे ही रखने चाहिएँ जैसे कि वह संसार में अपने कार्य प्रकट करना चाहता है, जैसे हम सब लोग चाहते हैं कि लोग हमें सच्चा, निष्कपट, स्वार्थहीन, विद्वान आदि समझें। अतः हमारा पहला कर्त्तव्य है कि अपने में वे सब गुण लाने का प्रयत्न करें कि जिनका अपने में होना हम समाज में दिखलाना चाहते हैं। जो अपने विचार में सच्चा नहीं है उसे कोई स्वाभाविक अधिकार नहीं है कि दूसरे से अपने को सच्चा कहलाने का प्रयत्न करे। अतः कर्त्तव्यशास्त्र का पहला अंग सत्य है, जिसके बिना कोई मनुष्य बड़ा नहीं हो सकता। बड़ाई दो प्रकार की होती है, एक तो वास्तविक और दूसरी दिखौआ। वास्तविक प्रकार से वही पुरुष बड़ा है जो दुर्गुणशून्य हो कर

भी अपने में कोई भारी दोष नहीं देखता। अपने लिये सब
से अच्छा साक्षी आत्मा ही है। अपने विषय में स्वयं मैं
जितना कुछ जानता हूँ उतना और कोई नहीं जान सकता
अतः यदि मैं ही अपने विषय में कोई ऐसी बात नहीं जानता
जो मैं स्वच्छंदतापूर्वक समाज में न प्रकट कर सकूं, तो मेरी
महत्ता वास्तविक समझी जावेगी, चाहे संसार मेरा रत्ती
भर भी सम्मान न करता हो। दूसरा कर्त्तव्य जो बहुत विशा
है—उन्नति की इच्छा है। जो मनुष्य उन्नति का उत्सुक नहीं
है वह कभी पूज्य अथवा गरिमापूर्ण नहीं हो सकता। उन्नति
के लिये प्रत्येक मनुष्य को अपनी ही समीक्षा बड़ी कड़ी दृष्टि से
करनी चाहिए। जब तक कोई पुरुष अपने गुणदोष भली
भाँति से न जानेगा तब तक उचित उन्नति करने में सदैव
अशक्त रहेगा। इसीलिये आत्मज्ञान हमारे यहाँ बहुत आव-
श्यक माना गया है। अपने गुणों तथा दोषों पर संभावित
मनुष्य को सदैव पूरा ध्यान रखना चाहिए। गुणदोषों का
ज्ञान प्राप्त कर के उसे उचित है कि गुणों की वृद्धि और दोषों
की क्षीणता सदैव करता रहे। समुचित उन्नति के लिये प्रत्येक
सुधी को उचित है कि अपने गुणदोष, शक्ति, सामर्थ्य आदि
पर पूर्ण समीक्षा करके अपने लिये कोई न कोई जीवन-लक्ष्य
अवश्य बना लेवे। बिना लक्ष्य के उसके काम ऐसे ही भद्दे
होते हैं जैसे किसी नियत स्थान पर पहुँचने का विचार न
रखते हुए मनुष्य का मार्ग में चलना। देखने में तो यह बात
बड़ी ही साधारण समझ पड़ती है, किंतु जीवन-लक्ष्य रख
कर काम करनेवालों की संख्या संसार में बहुत ही

कम है, विशेषतया वर्त्तमान भारत में। इसलिये जीवन-लक्ष्य पर ध्यान देने की प्रथा बहुत ही आवश्यक समझनी चाहिए। जीवन-लक्ष्य निर्धारित कर लेने के पीछे मनुष्य को उसी के अनुसार विशिष्ट गुणों की उन्नति अपने में करनी चाहिए। संसार में विद्या का भांडार अटूट भरा है। यह, कोष व्यय करने से बढ़ता और काम में न लाने से घटता है। प्रत्येक स्थान और समय पर विद्या आने के लिये द्वार पर खटखटाया करती है। जो मनुष्य उस आवाज़ को सुन कर भी कपाट नहीं खोलता है, वही विद्या देवी के प्रसाद से विमुख रहता है। समाज में सहस्रों प्रकार के ज्ञानवृद्ध मनुष्य मिलते हैं वरन् नित्य सब जगह फिरते हैं। जो मनुष्य जिस विषय का ज्ञाता होता है उसे उससे पूर्ण प्रेम होता है। यदि उससे उस विषय की चर्चा की जाय तो वह बड़े ही चाव से अपना ज्ञान प्रगट करेगा। इस प्रकार विशेष श्रम किए बिना ही जिज्ञासु सहस्रों विषयों का ज्ञान केवल साधारण समाज से प्राप्त कर सकता है, यदि वह उन विषयों में उन्नति करने की कुछ भी कामना करे। फिर भी लोगों की दशा तेली के बैलवाली प्रायः देखी गई है। वे कोल्हू के वृत्त को छोड़ कर कुछ जानना ही नहीं चाहते। यदि किसी ऐसे विषय की बात चीत चले जिसका उन्हें ज्ञान नहीं है, तो उस मौके को भाग्यदत्त न समझ कर यही कह बैठते हैं कि कहाँ की शुष्क विषयों की कोरी बकवाद निकाली। ऐसी चित्त-वृत्ति अपनी उन्नति के मार्ग में काँटे बोने का काम करती है। इसलिये उन्नति में जीवन-लक्ष्य पर ध्यान रखते हुए भी

पालन को सब से पहले स्थान मिलता है। यह एक
विषय है जिस पर हमारे यहां बहुत प्राचीन काल से
होता चला आया है। वेद, शास्त्र, पुराण, पितर,
द्ध, कुलवृद्ध, धनवृद्ध, ज्ञानवृद्ध आदि अनेकानेक प्रकार
और मनुष्य अपनी अपनी आज्ञाएँ प्रचारित कर चुके
र कर रहे हैं। ये सब हम से अपनी अपनी आज्ञाओं
ालन कराना चाहते हैं। सब का कथन यही है कि ये
एँ हमारे ही हित के लिये हैं, किंतु इन आज्ञाओं में
स्थान पर ऐसा विरोध पड़ता है कि इन सब के पालन
की इच्छा रखनेवाले के लिये भी इनका पालन अत्यंत
न है। वेद शास्त्रादि का कथन है कि हमारी आज्ञा न
ने का दंड घोर पातक और समय पर नर्कगमन अथवा
कष्ट हैं। समाज अपनी आज्ञा न माननेवाले को सामा-
बहिष्कार तक का दंड दे सकता है और कभी कभी
काल के लिये देता भी है। इसी भाँति अन्य आज्ञाभंगों
ड हैं। इधर ईश्वर ने बुद्धि और अनुभव शक्ति काम में
े ही के लिये दी हैं। यदि इनकी कोई आवश्यकता न
ी तो स्यात् ये हमें मिलतीं ही नहीं। मनुष्य और पशु में
ीं बातों का प्रधान अंतर है। जो मनुष्य इन शक्तियों से
म नहीं लेता वह अपने को पशुओं से बहुत श्रेष्ठतर नहीं
ता। फिर यदि प्रत्येक आज्ञा आज्ञापित पुरुष की
ीक्षा के अधीन हो जावे तो संसार से अनेकानेक सद्विषयों
र उन्नतियों का अति शीघ्र अभाव हो जाना न केवल
भव वरन् निश्चित है। संसार के सारे गड़बड़ों का मिटाने

वाला आज्ञापालन का ही नियम है। इसका स्वतंत्रता से सहज विरोध है, किंतु फिर भी बिना इसके कोई भी सद्गुण यहां तक कि स्वयं स्वतंत्रता भी संसार में नहीं आ सकती। कहते ही हैं कि जो मनुष्य कभी अच्छा आज्ञाकारी नहीं रहा है वह अच्छा शासक नहीं हो सकता। इन कारणों से इस बात पर विचार परमावश्यक है कि कहाँ तक आज्ञापालन का नियम मान्य है और कहाँ से स्वतंत्रता का साम्राज्य चलता है। कर्त्तव्यशास्त्र के लिये इस अंतर का ज्ञान परमावश्यक है। अतः इस पर भी यहां कुछ विचार होगा।

यह बात तो प्रत्यक्ष ही देख पड़ती है कि स्वतंत्रता पर सब जीवधारियों का सहज अधिकार है। किसी को यह अधिकार नहीं है कि निष्कारण किसी पर अपना आतंक अथवा प्रभुत्व जमावे। फिर भी रोगी वैद्य की आज्ञाओं को अपने ही हित के लिये मानता है। वैद्य के आज्ञोल्लंघन से उसकी कोई हानि नहीं है, प्रत्युत् रोगी ही अपनी दशा बिगाड़ता और मरण तक को प्राप्त हो सकता है। बालक पर उसके पिता, पालक, अध्यापक आदि जो आज्ञाएँ चलाते हैं उनसे उनका कोई हानि-लाभ नहीं है, प्रत्युत् उनके न मानने से बालक ही अवनति करेगा और संकट में पड़ेगा। सेनापति अथवा कोई अन्य नेता अपने अधीन लोगों पर जो आज्ञा चलाता है उससे उन सभों की भी मंगल-कामना तथा संसार-परिचालन का अभीष्ट होता है। नेतागण को आज्ञाएँ प्रचारित करने में इन्हीं बातों पर ध्यान रखना

िए न कि आत्मगौरव पर। यहाँ तक आज्ञापालन
वक मनुष्य का धर्म है और ऐसे आज्ञा-भंग से आज्ञोल्लं-
नकारी की कर्त्तव्य-परायणता में क्षति पहुँचती है। अतः
ाज्ञापालन यहां तक उचित स्वतंत्रता का बाधक नहीं है।

इसी प्रकार राजाज्ञापालन भी उचित स्वतंत्रता का
ाधक नहीं है, क्योंकि इसके बिना समाज स्थिर नहीं रह
कता। प्रत्येक आज्ञा या तो स्वाभाविक अधिकार से दी जाती
या क्रीत अधिकार से। स्वामी जो सेवकों पर आज्ञा
लाते हैं वह इसी मोल लिए हुए अधिकार पर अवलंबित
। जब मैंने अपना समय, पुरुषार्थ आदि बेच दिया है तब
वामी को उसके अर्पण करने में क्या आपत्ति हो सकती
? किंतु वास्तव में यह एक कृत्रिम अधिकार मात्र है और
ास्तविक कर्तव्यशास्त्र से इसका बहुत कम संबंध है।
वाभाविक अधिकारवाली आज्ञाएँ ही प्रधानतया कर्तव्य-
शास्त्र में स्थान पाती हैं। इन आज्ञाओं के लिये पहली और
परम प्रकृष्ट आवश्यकता यह है कि वे आज्ञाकारी ही के
कामार्थ हों। जब तक कोई आज्ञा इस कसौटी पर कसने से
खरी न उतरे, तब तक वह वास्तविक आज्ञा है ही नहीं, वरन्
आज्ञा के पवित्र रूप में वह वस्तुतः बड़ी ही गर्हित चोरी है
और ऐसा आज्ञा-प्रचारक, शास्त्रकार, नेता आदि के पवित्र
नामों से न पुकारा जाकर पूरा चोर कहलावेगा। ऐसे चोर
की आज्ञापालन में पुण्य के स्थान पर पाप और कर्तव्य-
निष्ठा के स्थान पर मूर्खता स्थिर होती है। अतः इसका न
मानना ही परम धर्म एवम् परम कर्तव्य है। अतः प्रत्येक

आज्ञाकारी का पवित्र कर्तव्य है कि आज्ञाओं को शिरो-धार्य करने के पूर्व इस पर विचार कर लेवें कि वे इन दोनों कसौटियों पर कसने से अपनी दीप्ति तो नहीं खोतीं। हम सब लोग हर समय बहुधा साथ ही साथ आज्ञाकारी तथा प्रदाता दोनों होते हैं। ऐसे समयों पर हमें खूब जाँच कर लेनी चाहिए कि हमारी आज्ञाएँ किसी की उचित स्वतंत्रता के प्रतिकूल तो नहीं पड़तीं। बहुत लोगों का कथन रहता है कि शास्त्रीय आज्ञाओं के विषय में हम लोगों को अपनी बुद्धि से काम लेने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि इस कराल कलिकाल में हमारी बुद्धि का ऐसा ह्रास हो गया है कि वह उतनी ऊँचाई तक पहुँच ही नहीं सकती। ऐसे कथन करनेवालों को या तो बेईमान समझना चाहिए या कोरे ठंठ। ये कथन धूर्तता और मूर्खता इन दोनों के बाहर नहीं जा सकते, अर्थात् ऐसा कहनेवाले या तो धूर्त हैं या मूर्ख। ईश्वर ने बुद्धि-विकाश किसी एक समय के लिये स्थिर नहीं कर दिया है वरन् सब समयों के लिये सम भाव से सभी सद्गुणों का वितरण किया है। यदि यह मान लें कि उस ने किसी के लिये अधिक बुद्धि-प्रदान आवश्यक माना और किसी के लिये कम, तो उसके दाक्षिण्य भाव में बड़ा भारी बट्टा लगेगा और प्रत्यक्ष सिद्ध हो जायगा कि वह भी शुद्ध न्याय न कर के अकारण पक्ष ग्रहण करता है। संसार में साम्य का सिद्धांत बहुत ही अटल है। ईश्वर ने सभी का सम भाव से आदर एवं निरादर किया है। उसने किसी के लिये सुख और किसी के लिये दुःख नहीं रचा है। जो कुछ अंतर हम लोग संसार में देखते हैं वह हमीं लोगों के कर्मों के कारण है, चाहे वे इस

के हों या पूर्व जन्मों के । यदि ईश्वर भी निष्कारण
। को बुद्धिमान और दूसरे को मूर्ख बनावे, तो वह भी
ी नहीं हो सकता। उसने तो सभी कुछ सब के लिये
या है। अपने अपने गुणकर्मानुसार मनुष्य सुख दुःख
करता है। इसलिये ऐसा कभी न सोचना चाहिए कि
समय ईश्वर को किसी अन्य की अपेक्षा विशेष प्यारा है।
जैसे ईश्वरीय नियमों में समता-सिद्धांत सर्वथा दृष्टिगो-
होता है, वैसे ही मानवीय नियमों में होना चाहिए।
वह दो समान खेतों में असमान धान्य नहीं देता, वैसे ही
वीय नियमों को दो समगुणवान मनुष्यों का असमान
कार नहीं करना चाहिए। जो नियम इस अटल सिद्धांत
प्रतिकूल हैं वे महा घोर पातक फैलानेवाले और सर्वथा
रस्करणीय हैं। लार्ड हार्डिंग महाशय ने अपने एक
ाख्यान में प्रत्यक्ष कहा है कि "जो क़ानून अन्याय पर अव-
बित है उसके न मानने का प्रत्येक प्रजा को स्वाभाविक
धिकार है।" इस कथन से बढ़ कर व्यक्तिगत स्वतंत्रता का
ादर संसार में बहुत कम हुआ होगा। यह सदैव ध्यान
खना चाहिए कि प्रत्येक नियम, उपनियम, शास्त्र, कानून
ादि सहज स्वातंत्र्य का विरोधी होने से कम से कम एक
ावश्यक बुराई अवश्य है। किसी को और के अधिकारों
ो छीनने का स्वाभाविक अधिकार नहीं है। अधिकार संकु-
न का नियम संसार में इसीलिये चला कि बिना इसके
ोक-परिपालन नहीं हो सकता। इसलिये किसी के स्वा-
ाविक अधिकार वहीं तक छीने जा सकते हैं जहाँ तक उन

से किसी दूसरे के उचित अधिकारों में बाधा पड़ती है
अधिकार बरतनेवाले ही की हानि होती है। सुतराम् प्रत्ये
नियम-रचयिता एवम् आज्ञाप्रचारक का कर्त्तव्य है कि दूस
की स्वतंत्रता में बाधा डालने के प्रथम अपने नियम अथ
आज्ञा के औचित्य पर ध्यान दे लेवे। इसी प्रकार प्रत्ये
समर्थ आज्ञाकारी का अधिकार वरन् धर्म है कि उस आज्ञ
के मानने से पूर्व उसके गुण दोषों पर पूर्ण समीक्षा कर लें
बिना ऐसा करने से बहुधा कर्त्तव्य-पालन के स्थान पर ध
का हनन हो जाता है क्योंकि—

"धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः।"

ऊपर हम आज्ञाकारिता, स्वतंत्रता और कर्त्तव्य-परायण
णता में जो संबंध है उसे दिखलाने का प्रयत्न कर चुके हैं
अब कर्त्तव्य के कुछ अमुख्य सिद्धांतों पर विचार कर
शेष है। ऊपर के कथनों से प्रकट है कि कर्त्तव्य-परायणत
के लिये समालोचना का गुण परमावश्यक है, क्योंकि भला
के विचार में बुद्धिमत्ता एक अंग है। बिना बुद्धिमान हु
कोई शरीरी भला नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अपन
मूर्खता के कारण न जानते हुए भी वह बुराइयाँ कर सकत
है। इसीलिये कहा गया है कि मूर्ख मित्र से बुद्धिमान श
भला है। प्रत्येक सुधी पुरुष के अनुभव में आया होगा वि
आलोचनाओं में वक्रालोचनाओं की संख्या समालोचनाओं
की अपेक्षा बहुत अधिक होती हैं। इसके कारण खोजने
भी धूर्तता अथवा मूर्खता से इतर कुछ न मिलेगा। लोग
बहुधा पराए गुण को नहीं देख सकते, विशेषतय

दे वह गुणी उनका कोई निकट का संबंधी हो। कर्त्तव्य मार्ग में स्वार्थपरता ने जितने काँटे बोए हैं उतने किसी पुरी वासना ने नहीं बोए। साधारण स्वार्थपरता तो गृहस्थ लिये निंद्य नहीं है, किंतु स्वार्थी मनुष्य को चोरी से बचने के लिये सदैव पूरा प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि स्वार्थ की सीमायें चोरी से मिली हुई हैं और स्वार्थ-साधन में मनुष्य उचित से थोड़ा ही दूर जाने में चोरी की सीमा के भीतर पहुँच जाता है। यदि समीक्षा-करण में मनुष्य धूर्तता का सहारा छोड़ देवे जो सर्वथा उसी के अधिकार में है, तो उचित समीक्षा की बाधक मूर्खता ही रह जाती है। साधना का अभाव इसी के अंतर्गत आ जाता है। जो कोई किसी विषय पर उचित परिश्रम किए बिना ही अपनी सम्मति स्थिर करना चाहता है वह भी एक प्रकार से मूर्ख ही है। इसीलिये कहा गया है कि जो मनुष्य सम्मति स्थिर करने का साहस नहीं करता वह कायर है, जो इच्छा नहीं करता वह आलसी है और जो शक्ति नहीं रखता वह मूर्ख है। अतः प्रत्येक सम्मति स्थिर न करनेवाला या तो कायर है, या आलसी अथवा मूर्ख।

जब सम्मति का स्थिर करना ऐसा आवश्यक समझा जाता है तब उचित समझ पड़ता है कि उसके लिये विशेषतया सहायक दो चार बातों का भी यहाँ कथन कर दिया जाय। धूर्तता और मूर्खता का अभाव उचित सम्मति के पुष्टीकरण का अंग है। इसके अतिरिक्त उत्साह एक बड़ा ही उन्नतिकारी गुण है। काव्य-शास्त्र-विशारदों से छिपा नहीं

है कि यही वीरता का स्थायी भाव माना गया है
विना इसके कोई मनुष्य वीर नहीं हो सकता, क्योंकि उ
वीरता के विचार आ ही नहीं सकते। उत्साह साधना
स्टीम इंजिन और श्लाघा का सहोदर है। किसी को
श्लाघ्य न कहना नीचता की पराकाष्ठा है। ऐसे अधम पु
से किसी बात की भी आशा नहीं हो सकती। यद्यपि सं
में मंडनालोचना तथा खंडनालोचना दोनों आवश्यक
तथापि अधिक स्थानों पर पहली से मानसिक उन्नति ·
दूसरी से अधःपतन देख पड़ते हैं। सुधी पुरुषों का
भी एक कर्त्तव्य है कि वे सब की उचित महिमा करें।
सब में महिमा का अभाव सोचता है वह स्वयं एक नि
पुरुष है। संसार में बहुधा सद्गुण और दुर्गुण मिले र
हैं। प्रत्येक वस्तु और स्थान पर परिश्रम के साथ खोजने
प्रायः तीव्रालोचक यथारुचि सुगुण अथवा दुर्गुण की स्थाप
कर सकता है। जिनको बहुत से लोग नितांत स्वार्थी अथ
मूर्ख समझते हैं, खोजने से उनमें भी बहुत से ऐसे सद्गु
मिलते हैं जिनसे बड़े बड़े विद्वानों को भी शिक्षा मिल सक
है। किंतु एक कौआ स्वच्छ घर पर बैठने में भी पुरीषागा
को ही समुचित स्थान समझेगा। संसार में सद्गुणों त
दुर्गुणों का पूरा कोष प्रायः सभी ठौर भरा हुआ है; केव
खोजनेवाला चाहिए। लोगों ने अपनी वक्रालोचना
शक्ति को यहाँ तक फैलाया है कि ईश्वर तक में बिना दो
देखे उनसे नहीं रहा जाता। एक दार्शनिक ने यहाँ त
लिखा है कि शरीरियों के लिये दो के स्थान पर तीन नेत्रों का

होना और उनका एक ही स्थान पर होने की अपेक्षा
के तीन पृथक् कोनों में होना अधिक लाभदायक था।
के कम दोनों वर्त्तमान नेत्र ही अति समीप न हो कर
के आगे पीछे या कानों के ऊपर होते तो अधिक सुभी
होता। उनका कथन है कि ऐसे भद्दे नेत्रों और शरीर
अन्य अवयवों की खराबी से प्रत्यक्ष प्रकट है कि यह श
ईश्वरकृत नहीं है। अतः ईश्वर है ही नहीं। ऐसी पे
खंडनालोचना करनेवाले अपनी ही कम समझी दिखलाते
हमारा लोक तो सहस्रों लोकों में एक है। तब हम क्या ज
सकते हैं कि अन्य लोकों के शरीरावयव कैसे होंगे और
लोक में अवयव ऐसे रखने से उसका क्या प्रयोजन था
निदान मंडनालोचना से आलोचक एवं संसार की जित
ज्ञान-वृद्धि हो सकती है उतनी खंडनालोचना से नहीं।
कथन से यह प्रयोजन सिद्ध नहीं किया जाता है कि निंद्य वस्तु
की निंदा न की जाय। ऐसा करना भी लोकोपकारक अवश्य
है, परंतु गुण को छिपाना और अवगुण निकालना सदै
अत्यंत निंद्य समझना चाहिए। साधारणतया पंडितों
विचार है कि छिद्रान्वेषण से गुणावलोकन श्रेष्ठतर है। इसी
लिये उनका कथन है कि साधारणतया बड़ों का समर्थन, बर
बरीवालों का मान, और अपने से छोटे दर्जेवालों से सम
व्यवहार उचित है। बड़ों को भाग्यवान मात्र कह कर उनके
गौरव की तुच्छता व्यंजित करना प्रायः चोरी के समान तिर
स्करणीय है क्योंकि अधिकतर दशाओं में कमाई हुई गुरुता
का कारण गुण ही होता है; आकस्मिक घटनाएँ नहीं

इसलिये जो लोग ऐसा कहते हैं कि शिवाजी सा वर्ण्य पा कर मैं भी भूषण से अच्छी रचना कर डालता, वे के अपनी ही क्षुद्रता प्रकट करते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखने प्रत्येक गौरवप्राप्त मनुष्य एवम् जाति में बहुत से ऐसे अ मोल गुण निकलते हैं जो उचित प्रकार से उसके गौरव कारण और संस्थापक हैं। ऐसा कहनेवाले, कि जब खँझ मढ़ते बनती है तब खूब बजती है बहुत स्थानों पर अप ही कुटिलता अथवा मूर्खता प्रकट करते हैं। यह सदैव ध्य रखना चाहिए कि खँझड़ी मढ़ी तो उसी ने है। इन कथ का यह तात्पर्य नहीं है कि कोई कभी आकस्मिक घटना से गौरव प्राप्त करता ही नहीं। यहां प्रयोजन केवल इत दिखाने से है कि सौ में नब्बे दशाओं में स्वयमर्जित गौर के कुछ प्रबल और गरिमापूर्ण कारण होते हैं जिनको ई द्वेषवश वक्रालोचक देखना पसंद नहीं करते।

कर्त्तव्य और आज्ञापालन का यह वर्णन अब यहीं समा होता है। इसमें मुख्यता इसी बात की है कि कर्त्त केवल इसीलिये करना चाहिए कि वह करणीय है। इसमें फल की आशा जोड़ कर इसके पुण्यपूर्ण तेज को कलंकित करने का विचार तक न करना चाहिए। कर्त्तव्यपालन में यदि कोई कभी समर्थ न हो तो भी उसका सच्चा प्रयत्न मात्र पूर्ण प्रशंसा के योग्य है। विफलता अथवा सफलता सच्चे कर्त्तव्य की गरिमा को तिल मात्र घटा बढ़ा नहीं सकती।

दसवाँ अध्याय।

आचार।

"आचारः प्रथमो धर्मः।"

आचारशास्त्र का वर्णन कई अंशों में ऊपर कहे हुए स्वतंत्रता एवं कर्त्तव्यवाले वर्णनों से कुछ कुछ मिला हुआ है। फिर भी इन तीनों में अंतर थोड़ा नहीं है। इसीलिये इन तीनों विषयों का पृथक् अध्यायों में वर्णन उचित समझा गया है। आचार कई प्रकार का होता है जिनमें व्यक्त्याचार, कुलाचार और देशाचार की प्रधानता है। अंतिम दोनों आचार एक प्रकार से प्रथम के ही परिपोषक हैं, क्योंकि सभी शास्त्रों और आचारों का निचोड़ यही है कि मनुष्य एक भद्र पुरुष बने। कुलाचार और देशाचार का पृथक् वर्णन इसीलिये आवश्यक है कि इनका प्रभाव व्यक्त्याचार पर अन्य बातों की अपेक्षा कुछ अधिक पड़ता है।

भद्र पुरुष होने के लिये मनुष्य में किन किन गुणों की आवश्यकता है, इस प्रश्न का उत्तर देना सुगम नहीं है। पृथक् पृथक् जातियों और देशों ने इस प्रश्न के भिन्न भिन्न उत्तर दिए हैं। एक ही देश में भी प्रायः धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, आदि विचारों से भद्रत्व के विषय में भारी विभिन्नता पाई जाती। इन सब का अलग अलग

वर्णन करना हमें इस स्थान पर अभीष्ट नहीं है। यद्यपि तथा इन का विस्तृत स्थान स्थान पर आप ही होता जायगा। पाश्चात्य सभ्यता ने मनुष्य के लिये दो मुख्य गुण बता रक्खे हैं, अर्थात् शारीरिक सफाई से रहना और स्पष्ट वा प्रकाश्य किसी भी रूप से झूठ न बोलना। देखने में इन दोनों को एक साथ जोड़ना कुछ असमिल जोड़ जान पड़ेगा, किन्तु विचारपूर्वक देखने से प्रकट होता है कि मनुष्य के लिये ये दोनों गुण बहुत ही आवश्यक हैं। सफाई अर्थात् स्वच्छता पर हमारे यहाँ भी प्राचीन काल से बड़ा ही अनुरोध रहा है। यह विचार शौच में सन्निविष्ट है। शौच भगवान् मनु के अनुसार मनुष्य के दस मुख्य धर्मों में एक है। इनका वर्णन इसी अध्याय में यथास्थान होगा। प्रत्येक भद्र पुरुष का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी तथा औरों की जीवन-यात्रा में सदा सहायक रहे और कम से कम हानि न पहुँचावे। आयुर्वैदिक सिद्धांतों से भली भाँति सिद्ध हो चुका है कि जो लोग अपना शरीर अथवा वस्त्र मैला रखते हैं उनके द्वारा अनेकानेक रोगोत्पादक कृमि-समुदाय संसार में उत्पन्न हो कर उनके तथा समाज के स्वास्थ्य को हानि पहुँचाते हैं। यह बात निर्विवाद है कि पाश्चात्य जातियाँ आज कल हम लोगों से शारीरिक स्वच्छता में अग्रवर हैं। उन के हम से अपेक्षाकृत अधिक दीर्घजीवी होने का यह भी एक प्रधान कारण है। भारत ही में देखा गया है कि निर्धन लोगों में उनके मालिन्य के कारण प्लेग रोग बहुत अधिकता से होते हैं। इसलिये शारीरिक

कष्ट स्वयं न उठा कर वह औरों को उसके कुप्रभाव-सहन पर निष्कारण बाधित करता है, जिसका भाव यह व्यंजित होता है कि वह औरों के सम्मिश्रित कष्ट को अपनी अपेक्षा इतना तुच्छ समझता है कि अपने क्षणिक मानस विकार के रोकने का प्रयत्न नहीं करता। अतः इस कार्रवाई में भी वह दर्पोक्ति का दोषी है। जैसे क्रोध आदि प्रकट करके हम औरों को कष्ट देते हैं वैसे ही करुणा प्रकटी-करण द्वारा भी समाज को दुःख पहुँचता है। इस बात पर भारत में इतना विचार नहीं किया जाता है जितना कि युरोपीय देशों में। वहाँ पुत्र, पति, पत्नी आदि के मृत्युभव असह्य शोकों को भी लोग समाज में प्रकट नहीं करते। ऐसी दशाओं में शोकाकुल मनुष्य एक दो मास पर्य्यंत समाज में सम्मिलित ही नहीं होता, जिसमें उसके शोक से औरों को प्रकाश्य अथवा प्रच्छन्न क्लेश न पहुँचे। कुल बातों का सारांश यह है कि प्रत्येक भद्र पुरुष को अपना पवित्र कर्त्तव्य समझना चाहिए कि औरों को यथाशक्ति लाभ पहुँचावे और उन्हें अपने किसी आचरण से कभी किसी प्रकार की हानि पहुँचने न देवे। अतः परदुःख की हानि की इच्छा और परोपकार को भद्रत्व का मूल कारण समझना प्रत्येक सुधी पुरुष का पवित्र कर्त्तव्य है। सामाजिक जीवन को साधारण न समझ कर उसे भारी गौरव प्रदान करना भी परमावश्यक है। प्रत्येक पुरुष समाज से लाभ उठाता है। ऐसी दशा में प्रत्युपकार में उसे यथाशक्ति लाभ पहुँचाना परमावश्यक है। हमें थोड़ी बात को भी छोटा न समझना चाहिए ॰ अपने छोटे से छोटे दोष को भी पूर्णतया तिरस्करणीय मानना

मारा धर्म है। अपने गुणों तथा दूसरे के दोषों को छोटा
ानना तथा अपने दोषों और दूसरे के गुणों को गुरु सम-
ना भद्रत्व का एक बड़ा पोषक विचार है। हमें सदैव धैर्य्य
ारण कर के क्रोध-प्रदर्शन से बचना चाहिए।

अब तक भद्रत्व के दो प्रधान अंगों का कथन हुआ है।
ाब आचार-शास्त्र के अन्य अंगों का कुछ वर्णन किया जाता
। व्यक्त्याचार के लिये भलमंसी (शराफ़त) भी एक
रमावश्यक गुण है। साम्य, स्वसमीक्षाकरण, हठ का अभाव,
ासन्न-चित्तता, सहृदयता और सौजन्य प्रत्येक व्यक्ति के बहुत
ड़े भूषण और भद्रत्व के भारी पोषक हैं। जो लोग मदादि
े असंयत सेवन से उन्मत्त होते हैं वे स्वनिरादर के घोर
अपराध के भागी हैं। बिना अपनी समीक्षा किए कोई मनुष्य
साधारण दोषों से छुटकारा नहीं पा सकता। जो पुरुष युक्ति-
युक्त और माननीय तर्क सुन कर भी अपना हठ नहीं छोड़ता,
वह पूरा झूठा कहलाए जाने के योग्य है। ऐसों ही को समाज
नामाकूल की उपाधि देता है। बिना प्रसन्न चित्त हुए मनुष्य
न अपना उपकार कर सकता है और न समाज का। इसी
गुण को लोग जिंदादिली कहते हैं। ऐसा प्रत्येक पुरुष समाज
का कोष है। किसी को यदि वह कुछ न देवे, तब भी सदैव
पुण्य प्राप्त करता है। जिसके द्वारा औरों को जितनी ही
प्रसन्नता प्राप्त हो, वह उतने ही पुण्य का भागी होगा।
सहृदयता बिना मनुष्य औरों के समझने में बड़ा विफल
रहता है, सो उसे यादृश ज्ञान-प्राप्ति नहीं होती। केवल
संकीर्ण हृदय पुरुष हृदय-शून्य और अरसज्ञ होते हैं। ऐसे

ोता है जिससे यह मनुष्य औरों को बड़ा फीका जँचने ल
ै और इसका संग उन्हें भारस्वरूप हो जाता है।
अनेकानेक विषयों का ज्ञान समाज में जो इस बानि
आता है उससे लोकोपकार भी बहुत होता है। च
हाथी, मधुमक्खी, आदि का ज्ञान संसार ने इसी प्रका
पाया है। जो लोग कुछ भी काम नहीं करते उन्हीं को
से अधिक समयाभाव की शिकायत रहती है। काय
पुरुष आलसी से चौगुना काम करते हुए भी उससे अ
अवकाश का भी आनंद लूटता है। कार्य्य-दक्षता एक
रत्न है जो व्यक्ति, समाज, देश और संसार सभी को
लाभ पहुँचाता है। जिसे अपने ही को प्रसन्न करन
उसका स्वामी अर्थात् स्वयं वह, उससे कभी प्रसन्न नह
सकता। उसका चित्त सदैव कुछ न कुछ पाने को
रहता है, जो उद्विग्नता सभी दुर्गुणों की जननी होत
दिन में आठ घंटा काम करने के पीछे बचा हुआ अव
का समय जो मजा दिखाता है उसका शतांश
चौबीस घंटे आराम करनेवाले को स्वप्न में भी नहीं प्र
सकता। कहते ही हैं कि शून्य सदन में प्रेत का निवास
है। अतः कार्य्य न करनेवाला सदैव दोषों ही को
करता है। जो पुरुष अकर्मण्य है उसे पूरा चोर स
चाहिए, क्योंकि वह अपनी कमाई न खा कर दूसरों
जीवट के सहारे कालक्षेप करता है। यदि महापुरुष
ओर ध्यान दिया जाय तो ज्ञात होगा कि क्या सधन
क्या धनहीन, ऐसे सभी लोग पूर्णतया कार्य्य-कुशल र

लोगों की शिक्षा में वैविद्धि की सदैव कमी रहती है। सं
जन्य भद्रत्व का बहुत बड़ा अंग है। इसे बरतने में पुरु
समाज को सुखी कर सकता है और लोगों का प्रीतिभाज
भी होता है। कहा ही है कि—

"नर की और नलनीर की गति एकै करि जोय।
ज्यों ज्यों नीचो ह्वै चलै त्यों त्यों ऊँचो होय॥"

चरित्र-पूर्णता के लिये मनुष्य को केवल उपरोक्त गुण
की आवश्यकता नहीं, वरन् अपने में कोई न कोई ऐसा गुण
भी लाना चाहिए जिससे वह समाज का मनोरंजन क
सके। विविध कलाओं के अतिरिक्त मनुष्य को साहि
एवं चित्र की भी कुछ ज्ञान अवश्य रखना चाहिए। यदि
इन दोनों बातों में से एक भी उसके पास न होगी, तो समा
में उसका भाग बड़ा ही भद्दा और फीका जँचेगा। प्रत्ये
सुधी पुरुष को अपने में सौंदर्य्य का प्रेम सदैव जाग्रत रखन
चाहिए, क्योंकि इसके बिना उसके चरित्र ही में कोई सुंदरत
नहीं रहती।

प्रत्येक शिक्षित पुरुष को अपनी जीविका निर्वाहवाले
कार्य्य के अतिरिक्त कम से कम एक लोकोपकारी विषय क
अवश्य अपनाना चाहिए। इस बात की युरोपीय देशों में
बड़ी प्रचुरता है किंतु दुर्भाग्यवश आज कल हमारे यहां
इसका उचित से बहुत ही कम सम्मान है। यहाँ लोग जो
व्यापार करते हैं उसी का ज्ञानविस्तार अपने कर्त्तव्य की
सीमा समझ बैठते हैं और शेष सभी विषयों की ओर उदासीन
रहते हैं। यह आनिर्वत्य चरित्र-संकुचन का बहुत बड़ा कारण

होता है जिससे यह मनुष्य औरों को पड़ा फीका जँचने लग
[और इसका संग उन्हें भारस्वरूप हो जाता है। [
अनेकानेक विषयों का ज्ञान समाज में जो इस भांति [
जाता है उससे लोकोपकार भी बहुत होता है। [
हाथी, मधुमक्खी, आदि का ज्ञान संसार ने इसी प्रकार
पाया है। जो लोग कुछ भी काम नहीं करते उन्हीं को
से अधिक समयाभाव की शिकायत रहती है। कार्य्य
पुरुष आलसी से चौगुना काम करते हुए भी उससे अ
अवकाश का भी आनंद लूटता है। कार्य्य-दक्षता एक [
रत्न है जो व्यक्ति, समाज, देश और संसार सभी को [
लाभ पहुँचाता है। जिसे अपने ही को प्रसन्न करन
उसका स्वामी अर्थात् स्वयं वह, उससे कभी प्रसन्न नहीं
सकता। उसका चित्त सदैव कुछ न कुछ पाने को [
रहता है, जो उद्विग्नता सभी दुर्गुणों की जननी होती
दिन में आठ घंटा काम करने के पीछे बचा हुआ अव
का समय जो मजा दिखाता है उसका शतांश [
चौबीस घंटे आराम करनेवाले को स्वप्न में भी नहीं प्रा
सकता। कहते ही हैं कि शून्य सदन में प्रेत का निवास
है। अतः कार्य्य न करनेवाला सदैव दोषों ही को [
करता है। जो पुरुष अकर्मण्य है उसे पूरा चोर सम
चाहिए, क्योंकि वह अपनी कमाई न खा कर दूसरों
जीवट के सहारे कालक्षेप करता है। यदि महापुरुषों
ओर ध्यान दिया जाय तो ज्ञात होगा कि क्या सधन
क्या धनहीन, ऐसे सभी लोग पूर्णतया कार्य्य-कुशल र

महात्मा बुद्ध, शंकर, अशोक, अकबर, औरंगज़ेब, शिवा
प्रतापसिंह इत्यादि में से चाहे जिसको ले लीजिए, तो वि
होगा कि कार्य्यदक्षता ही पर उनका महत्व अवलंबित है
किसी एक भी अकर्मण्य पुरुष की महत्ता संसार में अद्याव
प्रकट नहीं हुई है। ढंग, धैर्य्य और समय संबंधी त
रता प्रायः इन्हीं तीन गुणों ने प्रत्येक महापुरुष को उस
महत्व प्रदान किया है। सामयिक तत्परता एक ऐसा अमू
रत्न है जो मनुष्य के जीवन को कार्य्य-कुशलता के लिये मा
चौगुना कर देता है। यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए
समय ही जीवन है। अतः जो पुरुष अपना जितना सम
असावधानी से निष्फल करता है उसका उतना जीवन
हो जाता है। फिर भी समय-साफल्य के लोभ से मनु
को अपनी शक्ति से बाहर कभी कार्य्य न करना चाहिए
कार्य्य के लिये आयुर्वेदिक नियमानुसार जिस दिन जित
समय अलम् है उससे अधिक व्यय करना एक प्रकार
आत्म-हनन है जिससे सभी कार्य्यकर्त्ताओं को सदैव बचन
चाहिए। धनी पुरुषों को परिश्रम करने से आत्म-गौरव
किसी प्रकार से क्षति नहीं समझनी चाहिए। परिश्रम
गौरव का ह्रास नहीं होता वरन् उसकी सभी प्रकार से वृ
होती है। परिश्रम का फल केवल धन नहीं है वरन् लोको
पकारिणी शक्ति ही कार्य्य-दक्षता का मुख्य फल है। ध
की दार्शनिक लोगों में इसी कारण महत्ता मानी जाती है
इच्छा रहने से मनुष्य उसके द्वारा भली भाँति उपकार क
सकता है। प्रचुर परिश्रम द्वारा कमाया हुआ धन कोई

मनुष्य बिना विचारे नहीं फेंक देगा, किंतु बिना परिश्रम से प्राप्त कोष को लोग तृणवत् फूंकते हुए देखे गए हैं। इसीलिये कहा गया है कि मनुष्य को अपनी आय के भीतर ही व्यय करना चाहिए, उसके बराबर नहीं, क्योंकि ऐसी दशा में अदृष्टपूर्व घटनाओं के कारण उसे न चाहते हुए भी अपनी आय के बाहर व्यय करना पड़ेगा। मनुष्य ऋणी प्रायः पोशाक अलंकार दिखाव और द्यूत के कारण होता है। अधिक व्यय से मनुष्य में दुराचार भी आ जाता है। दार्शनिकों ने दुराचार को आत्महिंसा के समान पापकर्म माना है। इससे नर नारी दोनों का धर्म नष्ट होता है और किसी प्रकार का कोई लाभ नहीं होता। बड़े बड़े शृंगारी कवियों तक ने लिखा है कि—

सुख थोरो अरु दुख बहुत परकीया की प्रीति।

और भी—

काँची प्रीति कुचाल की बिना नेह रसरीति।
मार रंग मारु मही बालू की सी भीति॥

फिर शास्त्रकारों का कथन है कि ऋणी लोग झूठे, अस्वस्थ और पापी होते हैं। उनका झूठा होना इस प्रकार सिद्ध है कि वे अपने वास्तविक विभव से अधिक महत्व लोगों पर प्रदर्शित करना चाहते हैं, मानों प्रत्येक परिचित जन से कहते हैं कि हममें इस प्रकार व्यय करने का आर्थिक सामर्थ्य है, यद्यपि वास्तविक दशा इससे बिल्कुल प्रतिकूल है। उनकी अस्वस्थता इस प्रकार मानी गई है कि मानसिक चिंताओं का प्रभाव शरीर पर अवश्य पड़ता है और ऋणी मनुष्य

निश्चित कभी नहीं रह सकता। इसी तर्क के अनुसार कहा जाता है कि मितव्यय की यानि स्वास्थ्य-प्रदायिनी होती है। ऋणी मनुष्य पापी इसलिये माना गया है कि वह अपने पुरुषार्थ का सहारा न करके दूसरों की कमाई से कुछ चुराता है। मनुष्य को यथाशक्ति सभी दूषणों से बचना चाहिए। किंतु प्रायः ऐसा होता है कि लोग दोष से बचने का इतना प्रयत्न नहीं करते जितना कि वास्तविक दोष-गोपन का। इसी लिये प्रायः देखा गया है कि दोषों से चरित इतना तबाह नहीं होता है जितना कि दोष के पीछेवाले आचरणों से। ये आचरण प्रायः सत्य के बड़े ही विरोधी होते हैं जिसका कथन कर्त्तव्य के वर्णन में ऊपर आ चुका है। कुल वातों का सारांश यह है कि मनुष्य को न केवल भद्रत्व-प्रदर्शन का प्रयत्न करना चाहिए वरन् भद्रत्व के सब लक्षण अपने में पूर्णतया लाने का अनिवार्य्य परिश्रम प्रत्येक सुधी के लिये योग्य है।

अब हम व्यक्त्याचार संबंधी विचारों का कथन भगवान् मनु की दश आज्ञाओं के वर्णन के साथ समाप्त करेंगे। महात्मा मूसा की दस आज्ञाओं का हाल तो बहुत लोगों ने सुना होगा किंतु भगवान् मनु की दसों आज्ञाएँ उचित प्रकार से ज्ञात नहीं हैं। उन्हींका वर्णन अब हम इस स्थान पर करते हैं—

धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिंद्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

धृति (धैर्य) के विना कोई पुरुष सदाचारी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जल्दी में वह प्रायः ऐसे काम कर बैठेगा

जो विचारपूर्वक चलने से वह कभी न करता। तुरता से न जाने हुए भी हमारे विचारों में अनेक दोष रह जाते हैं। एकाएकी भारी दुःखों से धैर्य्य का निरादर करनेवाला बहुत शीघ्र विचलित हो जायगा। धैर्य्य के अभाव से मनुष्य को अनेकानेक ऐसी हानियाँ सहनी पड़ती हैं जिनसे सावधान मनुष्य सुगमता से बचा सकता है। क्षमाहीन लोग संसार के समालोचक न कहे जा कर पूरे आततायी माने जावेंगे। मनुष्य स्वभावतः एक ऐसा दुर्बल जीव है, और शिक्षा, अनुभव, विचारशक्ति आदि में भिन्न भिन्न मनुष्यों में इतना अंतर होता है कि किसी की भूलों पर रुष्ट होना पंडित का काम नहीं है। भूल तो सभी से होती है। फिर किसी की भूल पर क्रोध करना कहाँ तक उचित कहा जा सकता है? बहुत से लोग कहते हैं कि जान बूझ कर बुराई करनेवाले को क्षमा कैसे किया जाय? उनको यही सोचना चाहिए कि जो कोई भूल करता है वह अज्ञानवश करता है। बिना अविद्या के भूल हो ही नहीं सकती। सब क्षमा के लिये जान बूझ कर अथवा बे जानी हुई दोनों भूलें बराबर हैं। इसी के साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उचित दंड का देना क्षमा का किसी अंश में भी विनाशक अथवा प्रतिद्वंद्वी नहीं है। ईश्वर के बराबर क्षमावान् कोई नहीं है, किंतु वह भी उचित दंड सदैव देता है। दंड तो आचार सुधारने के लिये दिया जाता है, न कि बुराई बढ़ाने को। दंड बुरा तभी कहा जायगा जब वह औचित्य की मात्रा से बढ़ेगा।

हम मानसिक इंद्रियों के दमन को कहते हैं और इंद्रिय-

निग्रह शारीरिक इंद्रियों के दमन का नाम है । ये दोनों दृ
ताएँ सदाचार विवर्द्धिनी हैं। जो मनुष्य बाह्येंद्रियों क
वश में करके भी मानसिक वासनाओं को नहीं रोक सकत
उसका आचार मिथ्याचार मात्र है । बिना इंद्रियदमन के
कोई मनुष्य स्वप्न तक में सदाचारी नहीं हो सकता। या
बात बिल्कुल प्रकट है और इसकी पुष्टि में कोई युक्तियु
प्रमाण देना अनावश्यक है ।

अस्तेय (चोरी का अभाव) देखने में एक साधार
बात समझ पड़ती है, किंतु वास्तव में बड़ा ही प्रधान गु
है। चोरी केवल सेंध लगाने अथवा छिपा कर किसी क
धन उठा लेने में नहीं होती है वरन् किसी प्रकार से ऐसे धन,
अधिकार, प्रभुत्व आदि के उपभोग में भी समझी जायगी
जिसका कि भोक्ता अधिकारी नहीं है। अनधिकार प्राप्ति
में सदैव चोरी आ जायगी चाहे वह धन की हो, अथवा
कीर्ति, प्रशंसा या किसी भी अन्य वस्तु की । यदि किसी और
ने कोई अच्छा काम किया है और मैं यह जान कर भी कि
मेरा उससे कोई विशेष संबंध नहीं है, लोगों से उस विषय
में अपनी बड़ाई सुन कर मौनावलंबी रहूं तो भी मैं एक प्रकार
से चौरकर्म का दोषी हूँगा। इसलिये पूर्ण न्याय से इतर
जितने कार्य अथवा अधिकार प्राप्त होते हैं, उन सब में कहीं
न कहीं चौरकर्म आ जाता है। इन सब से बचना प्रत्येक
सदाचारी का पवित्र कर्त्तव्य है ।

शौच विशेषतया शारीरिक स्वच्छता से संबंध रखता है।
इसका होना न केवल भद्रत्व के लिये, वरन् मनुष्यत्व के लिये

परमावश्यक है जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है
र भी हमारे शास्त्रों ने शौच संबंधी अनेकानेक नियमो
यम बना रक्खे हैं जिनका मानना भी समाज आचार का ए
ा मानता है । किंतु इतना सदैव ध्यान में रखना चाहि
ं ये नियम सदाचार से संबंध न रख कर धर्म से ही वास
ते हैं। सदाचार से इन से कोई विशेष संबंध नहीं है
बिना धी (बुद्धि) के कोई सदाचारी नहीं कहा
कता, क्योंकि इसके बिना उसे आचार-शास्त्र का समुचि
ान हो ही नहीं सकता। विद्या भी सदाचार के लिये प
ावश्यक है और बिना सत्य के कर्तव्य का पालन कभी न
ो सकता। इसका वर्णन कर्त्तव्य-कथन के अंतर्गत
ुका है। अक्रोध, सदाचार तथा भद्रत्व का बहुत ब
मर्थक है। इसका कथन इसी ग्रंथ में अन्यत्र कुछ विस्त
े साथ होगा। इन दसों गुणों को भगवान् मनु ने धर्म
क्षण माना है। उनकी अनुमति में बिना इनके कोई मनु
र्मी नहीं हो सकता।

यहाँ तक व्यक्त्याचार का वर्णन किया गया। अब कु
चार और देशाचार का कुछ कथन शेष है। पहले
कुलाचार का ही कथन करते हैं। कुल का लक्षण
कहा गया है—

> "आचारो विनयो विद्या प्रतिष्ठा तीर्थदर्शनम्।
> निष्ठा वृत्तिस्तपोदानं नवधा कुललक्षणम् ॥"

इस कथन के अनुसार जिस में ये नौ गुण हों वही पु
कुलीन कहा जा सकता है, और कोई नहीं। धर्म के

से यदि कुल के गुण मिलाए जाँय तो ज्ञात होगा
विया के इन दोनों में और कुछ नहीं मिलता है।
पूर्वक देखने से विदित होगा कि कुल के गुणों
ारिक प्रतिष्ठा का विचार कुछ अधिक दृढ़ है। अ
ा है कि शास्त्रानुसार सभी कुलीन पुरुषों को धर्मी हो
हुए, किंतु सभी धार्मिक लोगों को कुलीन होने की आ
कता नहीं है। कुल एक मनुष्य से नहीं बनता, व
के लिये समुदाय की भी आवश्यकता है। संसार में ऐ
हैं और प्रत्येक देश में अनेकानेक समुदाय हैं।
ल, अनुभव, इतिहास, व्यापार आदि के विचारों से प्र
ल का आचार अन्यों से कुछ पृथक् रहता है। उस कु
भी व्यक्तियों पर यह पार्थक्य भी कुछ न कुछ मान्य अवश्य
। इसीलिये देश में कुलाचारों का प्रचार हुआ। इन
त्तमता अथवा निकृष्टता के जाँचने में सदाचार की कसौटी
ा प्रयोग आवश्यक है। जो कुलाचार सदाचार के बाहर
नहीं निकलता, वह माननीय हो सकता है। फिर भी कुला
चार और सदाचार में इतना भेद है कि इसकी आज्ञाएँ प्रत्ये
पुरुष पर मान्य हैं, किंतु उस (कुलाचार) की प्रति मनु
की इच्छा पर निर्भर हैं।

देशाचार अनेकानेक कुलाचारों का समूह हो सकता
एक देश में एक ही कुल का भी होना संभव है, किंतु य
प्रति देश में अनेक कुल होते हैं। इसीलिये कुलाचार जैसे
... कुलाचारों का समूह और एक प्रकार से पथ-प्रदर्शक है,
... का समुदाय और नेता

र भी व्यक्त्याचार इन दोनों से सिर है। बिना इसके
य सिद्धांतों का मान किए कोई कुलाचार अथवा
ाचार मान्य नहीं हो सकता। देशाचार का प्रभाव व्य-
ाचारों पर बहुत पड़ता है, किंतु प्रभावशाली महात्माओं
व्यक्त्याचार, देशाचार एवं कुलाचार को, मोम प्रतिमा की
ांति जैसा चाहे वैसा बना बिगाड़ सकता है। जिस देश में
ितने ही ऐसे महापुरुष उत्पन्न हो जाते हैं, उसकी उतनी
अधिक गरिमा होती है। इन्हीं महापुरुषों का हम लोग
ाहरण देते हैं। दृढ़ेच्छा और उदाहरण चरित्र के सब
बड़े सहायक होते हैं। उदाहरण होने के लिये व्यक्ति का
ला और महात्मा होना परमावश्यक है। ऐसे उदाहरणों
ा कभी विनाश नहीं होता क्योंकि मरणानंतर भी उनके
ारित्र पृथ्वी पर वर्तमान रह कर जीवितावस्था से बहुत
धिक कार्य्य संपादित करते हैं। ऐसी दशा में उनके
रित्र औरों के व्यक्त्याचरणों में घुस कर एक ही साथ
असंख्य रूप पर के काम करते हैं। कौन कह सकता है कि
हात्मा व्यास, बुद्ध, शंकर, ईसा, मुहम्मद आदि की आत्माएँ
अदृश्य रूप पर कर प्रति क्षण कार्य्य संपादित नहीं करतीं।
भारी भारी विचार समय पर परिपक्व हो कर तादृश कार्य्य
करते हैं। महापुरुषों को संसार ने जातियों का दाय माना
है। प्रत्येक जाति की गुरुता उसके उदाहरणों पर निर्भर है।
व्यक्त्याचार को महत्ता ही कुलाचार और देशाचार का दाय
है। बिना इसके कुलाचार और देशाचार सदभाव हैं।
यदि महात्मा भीष्म विशारद या दृढ़व्रतिज्ञ, रामचंद्र या आदर्श

हिंदू, सुदास सा विजयी, मनु सा राजा, हरिश्चंद्र सा सत्
प्रिय, व्यास सा कवि एवं दार्शनिक, बुद्ध सा दयावान
ज्ञानी, शंकर सा पंडित, पतंजलि सा योगी, कपिल
स्वतंत्र विचारी, कृष्ण सा सर्वगुणाकर, अर्जुन सा वीर,
सा दानी, प्रह्लाद एवं चैतन्य सा भक्त, शिवाजी सा स्वदेश
नुरागी, परशुराम सा पितृप्रेमी, यशोदा सी माता, कालिदा
एवं तुलसीदास सा कवि , दशरथ सा पिता, भरत सा भा
बाजीप्रभु देशपांडे सा सेवक, सावित्री सी सती, शुक्र
मंत्री, हम्मीर सा मित्र, प्रतापसिंह सा जात्यभिमानी, अक
सा नीतिज्ञ, शिशोदिया चंद सा कर्तव्यपरायण, अशोक
धार्मिक और बीसलदेव सा प्रबंधकर्त्ता आदि भारत में न होग
होते तो आज इस हतभाग्य देश का अवनति में भी सि
ऊँचा करनेवाला कोई न होता और हमारे लिये उन्नति
पथ-प्रदर्शक देखने में न आता । उपरोक्त कथनों से प्रकट
कि ये तीनों प्रकार के आधार एक दूसरे के नेता एवं अ
गामी हैं। इनमें से प्रत्येक का औरों पर पूरा प्रभाव पड़
है तथा इन तीनों की स्थिति तीनों ही के प्रभाव की फ
स्वरूपा है । देशाधार पर भौगोलिक दशाओं का भी बड़ा
प्रभाव रहता है, वरन् यों कहना चाहिए कि देशाधारों पर
भूगोल ही की मुख्यता है, यद्यपि इतिहास का भी कम प्रभाव
इस पर नहीं रहता । ऐतिहासिक प्रभाव भी एक प्रकार से
व्यक्त्याधार ही का फल है किंतु कभी कभी अन्य कारणों से
होता है । वर्तमान काल में सभ्यता के बढ़ने से ऐति-
घटनाएँ बहुतायत से एक व्यक्ति के अधीन नहीं रह

गई हैं और सारे देश के मतसमुदाय का प्रभाव पा कर वे संगठित होती हैं। इतिहास देशाचार पर कैसे प्रभाव डालता है इसका एक उदाहरण भारत में स्त्रियों का पर्दे में रहना है। मुसल्मान जिस काल भारत में विजयार्थ आकर सफल मनोरथ हुए, तब भी बहुत काल पर्य्यंत अपने देशों से समुचित संख्या में स्त्रियां न ला सके। इसलिये उन्हें बलपूर्वक यहां से स्त्रियां छीननी पड़ीं। इसका फल यह हुआ कि स्त्रीरक्षा में असमर्थ हिंदू लोगों को अपनी रामाएँ पर्दे में रखनी पड़ीं।

भौगोलिक दशाओं का प्रभाव लोकाचार पर कैसे पड़ता है, इसके उदाहरण देने तक की आवश्यकता नहीं है। लोगों में वस्त्रों का बहुतायत एवं कमी, विशिष्ट भोज्य पदार्थों का ग्रहण एवं त्याग, भोजन करने के प्रकार, अनेकानेक आह्निक तथा नैमित्तिक आचार आदि सब विशेषतया देशों में उष्णता एवं शैत्य की प्रधानता तथा अप्रधानता पर निर्भर हैं। जहां शैत्य की विशेषता है वहां लोगों में कपड़ों की बहुतायत, मद्य सेवन की बानि, गरमी उत्पन्न करनेवाले भोजन की रुचि, बालविवाह से घृणा, मांसाशन से प्रेम इत्यादि अनेकानेक आचारों का प्राधान्य देखा जायगा। इसी प्रकार उष्णता-प्रधान देशों के आचार इन बातों के प्रतिकूल होंगे। धर्मों पर भी इन्हीं कारणों का प्रभाव पड़ता है।

हमारे यहां विशिष्ट भोज्य पदार्थों के ग्रहण एवं त्याग पर थोड़े काल से झगड़ा मच रहा है। इसलिये यहां इस विषय पर भी कुछ लिखा जाता है। यद्यपि वस्तुतः इसका आयुर्वेद

से संबंध हैं, न कि धर्म एवं आचार से, फिर भी हमारे य
स्व-शरीर-रक्षण भी प्रत्येक मनुष्य का धर्म समझा ग
है। क्योंकि आत्म-शरीर को भी ऋषियों ने स्वसंपत्ति
मान कर थाती मात्र माना है। इसलिये हम स्वेच्छया स्व
रीर का हनन अथवा उसकी अवनति करने से पाप के भा
होते हैं। इन्हीं कारणों से आयुर्वेद संबंधी नियम भी हमा
ऊपर वैसे ही बाध्य हैं जैसे कि अन्य धार्मिक नियम
इसीलिये हमारा आयुर्वेद भी एक प्रकार का धर्म शास्त्र है।

अब हम इसी का संबंध धर्माचार से दिखलाने में प्रवृ
होते हैं। हमारे यहां मांस-भक्षण पर प्राचीन काल से ऋ
लोग विचार करते आए हैं। दया का भाव हमारे यहां धर्म
का एक विशेष अंग माना गया है। इसीसे जीव मात्र का
अकारण हनन पातक समझा गया है। यह बात कुछ अंशों
में यथार्थ भी है क्योंकि हमें यथासंभव सबके साथ न्याय
करना चाहिए। फिर भी अनेकानेक ऐसे शरीरी हैं जो
अकारण भी मनुष्य एवं औरों पर प्रहार कर बैठते हैं, जैसे
सांप, बिच्छू, सिंह, आदि। इनके ऊपर दया करना मनुष्य
के साथ निर्दय होना है। इसी प्रकार मृगादिक तथा अनेक
पक्षी हमारे क्षेत्रों की उपज पर सदैव आक्रमण किया करते
हैं। इनके मारने के लिये ही मृगया करना क्षत्रियों का
धर्म माना गया है। फिर सिंहादि की प्रकृति ही ऐसी है कि
वे अन्य शरीरियों का भक्षण कर के ही जी सकते हैं। यह
नहीं कहा जा सकता कि सिंह मृग-हिंसा करने में पाप कमाते
हैं। यही दशा कई अन्य जीवों की है। फिर वनस्पति भी

निर्जीव न हो कर सजीव हैं। जल वायु आदि में भी अनेक शरीरी रहते हैं जिन्हें न जानते हुए हम सदैव खाते रहते हैं। दुग्ध, घृतादि भी शरीरभव हैं, सो इनका भक्षण भी एक प्रकार से शरीर भक्षण के समान है। इन कारणों से कोई मनुष्य वरन् जीवधारी शरीराभक्षी होने का अभिमान नहीं कर सकता। इन्हीं कारणों से हमारे ऋषियों ने लिखा है कि जिस जीवधारी का प्राकृतिक भक्षण जो है, उसके संपादन में यदि कोई वध भी होवे, तो वह वध पाप का कारण नहीं हो सकता।

अब यह देखना शेष है कि मनुष्य प्रकृति से मांसाशी है या नहीं। मनुष्य के ऊपर नीचे के चार दांत ऐसे हैं जिन की बनावट मांसाशी शरीरियों के उन्नत दंतों के समान है। मनुष्य प्रकृति से मांसाशी है या नहीं, इस प्रश्न पर अद्यावधि पंडितों में मतभेद है। अनुभव से प्रकट है कि मनुष्य को मांस हानि नहीं पहुँचाता और बिना इसके भी वह रह सकता है। पाश्चात्य देशों में लोग बहुतायत से मांस खाते हैं। चीनी, जापानी आदि भी बौद्ध हो कर ऐसा ही करते हैं। हमारे बंगाल में चावल बहुतायत से उपजता है। यदि बंगाली मत्स्याशन न करें तो उन के शरीर का पालन सम्यक् प्रकार से नहीं हो सकता, क्योंकि चावल गेहूं के समान पोषण शक्ति नहीं रखता। फिर अस्वस्थ होने पर प्रत्येक मनुष्य के लिये सभी प्रकार के भोज्य पदार्थ चाहिये। इसलिये शुद्ध नियम यही समझ पड़ता है कि भोजन का नियम आयुर्वेदिक सिद्धांतों के अनुसार चलना चाहिए।

फिर भी क्या भोजन और क्या अन्य बातें, सभी दश
न्याय का ध्यान रखना उचित है। अपने किसी आ
किसी जीवधारी के साथ यथासंभव अन्याय न होना च

कुल बातों का सारांश यह निकलता है कि परो
प्रचार एवं परपीड़न-तिरस्कार आचार शास्त्र का मूलमं
कहा भी है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयं।
पुण्यं परोपकाराय पापाय परपीडनम्॥

और भी—

व्यासदेव ने बिरच अठारह विशद पुराना।
पुण्यमूल उपकार पाप अपकार बखाना॥

ग्यारहवाँ अध्याय।

वीरता।

वीरत्व संसार में एक अमूल्य रत्न है। इसका आविर्भाव उत्साह से होता है। साहित्य-शास्त्र में उत्साह ही इसका स्थायी भाव माना गया है, अर्थात् बिना उत्साह के यह कभी स्थिर नहीं हो सकता। जिस पुरुष में किसी प्रकार का उत्साह नहीं है, वह किसी भी बात में कभी वीरता नहीं दिखला सकता। यह एक ऐसा गुण है कि जिसे न केवल वीर, वरन् कादर भी सम्मान की दृष्टि से देखता है। वीर से बढ़ कर सर्वप्रिय कोई भी नहीं होता और संसार पर वीरता का जितना प्रभाव पड़ता है उतना प्रायः और किसी गुण का नहीं पड़ता। सत्य आदि भी बड़े अनमोल गुण हैं किन्तु जितना आकस्मिक और रोमांचकारी प्रभाव वीरत्व का पड़ेगा उतना सत्य आदि का कभी नहीं पड़ेगा। इसीलिये वीरत्व में जगन्मोहिनी शक्ति सभी अन्य गुणों से श्रेष्ठतर है और यह कीर्ति का सबसे बड़ा वर्धक है। कादरता और भय से इसका सहज विरोध है। कादरता में तिलमात्र आकर्षण शक्ति तथा भय में कुछ भी प्रीति योग्य नहीं है। कादरता का कोई भी अंश किसी का चित्त अपनी ओर आकृष्ट नहीं करेगा और भय में कोई भी ऐसा अंश नहीं है जो किसी का प्रीतिभाजन हो सके।

वीरत्व को बहुत लोगों ने सामर्थ्य में मिला रक्खा
किंतु इन दोनों में कोई मुख्य संबंध नहीं है। सामर्थ्य के
इतना करता है कि वीरत्व की महिमा बढ़ा देता है। य
वीर पुरुष बलहीन हुआ तो उसकी वीरता वैसी नहीं जग
गाती जैसी की बलवान वीर की। यदि हनुमान जी सम
न फलांग गए होते तो भी उतने ही बड़े वीर होते जैसे
अब माने जाते हैं, किंतु उनके महावीरत्व को चमकानेवा
उदधि-उलंघन और द्रोणाचल-आनयन के ही कार्य हुए
वीरत्व और पराक्रम में इतना ही भेद है। वास्तवि
वीरत्व का मुख्य आधार शारीरिक बल न हो कर मानसि
बल है, जिसे इच्छा-शक्ति (Will-power) कहते हैं। इस शक्ति
का वेग कोई भी नहीं रोक सकता। एक पुरुष क
उद्दीम इच्छाशक्ति से पूरी सेना में पुरुषत्व आ सकता है
और एक कादर कभी कभी पूरे दल की कादरता
का कारण हो जाता है। शरीर का वास्तविक
राजा मन ही है। इसी की आज्ञा से शरीर तिल तिल कट
जाने से मुँह नहीं मोड़ता और इसी की आज्ञा से एक पत्ते
के खड़कने से भी भाग खड़ा होता है। बुद्धि, अनुभव आदि
इसके शिक्षक हैं। ये ही सब मिल कर इसे जैसा बनाते हैं
वैसा ही यह बनता है। इच्छा इसी शिक्षित अथवा अशिक्षित
मन की आज्ञा है। मन जितना ही दृढ़ अथवा डावाँडोल
होगा, उसकी आज्ञा, इच्छा वैसी ही पुष्ट अथवा शिथिल
होगी। जिसका मन पूर्णतया शिक्षित और स्ववश है,
उसीकी इच्छा में वज्रवत् दृढ़ता होगी। बिना ऐसी इच्छा-

ाकि के कोई पुरुष पूरा वीर नहीं हो सकता। इसलिये दया वीरत्व की सबसे बड़ी पोषिका है। जिसका मन उचित काम करने से तिलमात्र चलायमान होता ही नहीं और जो अनुचित कार्य्य देख कर बिना उसे शुद्ध किए नहीं रह सकता, वह सच्चा वीर कहलावेगा।

वीरत्व का द्वितीय पोषक न्याय है। बिना इसके वीरत्व शुद्ध एवम् प्रशंसास्पद नहीं होता। न्याय के सच्चा होने को बुद्धि की आवश्यकता है और साधारण न्याय को उदारता से अच्छी कांति प्राप्त होती है। अतः वीरता के लिये न्यायशीलता, उदारता और बुद्धि की सदैव आवश्यकता रहती है। सच्चे वीर को अन्याय कभी सह्य नहीं होगा। हमारे यहाँ वीरता का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण भगवान् रामचंद्र का है। इन्हीं को महाकवि भवभूति ने महावीर की उपाधि से भूषित कर के महावीरचरित्र के नाम से इन की जीवनी एक नाटक में लिखी है। दंडकारण्य में जिस काल आपने निश्चरों द्वारा भक्षित ब्राह्मणों की अस्थि का समूह निरीक्षण किया तो तुरंत "निश्चर हीन करौं महि, भुज उठाय पण कीन्ह।" यही उत्साह का परमोज्ज्वल उदाहरण था, जो आपने निशाचरों से बिना किसी वैर हुए भी दिखलाया। समय पर आपने यह प्रचंड पण सत्य कर के दिखला दिया। इनकी इच्छा लोहे के समान पुष्ट थी, जो एक बार जाग्रत होने से फिर दब नहीं सकती थी। इच्छा और कर्म में कारण कार्य्य का सो कारण शिथिल होने से कार्य्य का होना । कहते ही हैं कि बिना दृढ़ेच्छा के सदम-

द्विवेकिनी बुद्धि की आज्ञा अरण्य-रोदन हो जाती है। शुभ कार्य्यारंभ के विषय में कहा है कि विघ्नभय से अधम पुरुष कोई शुभ कार्य्य का प्रारंभ ही नहीं करते और मध्यम श्रेणी के लोग प्रारंभ करके भी विघ्न पड़ने पर उसे छोड़ बैठते हैं, किंतु उत्तम प्रकृतिवाले हज़ार विघ्नों को दबा कर एक बार का प्रारंभ किया हुआ शुभ कार्य्य पूरा कर के ही छोड़ते हैं।

सत्यनिष्ठा भी शौर्य्य के लिये एक आवश्यक गुण है। वीर पुरुष लोभ को सदैव रोकेगा, ईमानदारी का आदर करेगा, असत्य भाषण से बचेगा, और अपना वास्तविक रूप छोड़ कर कोई भी कल्पित भाव अथवा गुण प्रकट करने की स्वप्न में भी चेष्टा नहीं करेगा। संसार में साधारण पुरुष लोकमान्यता के लालच में सिद्धांतों को भंग करते हुए बहुधा देखे गए हैं। सिद्धांतप्रिय पुरुष माने जाने की इच्छा लोगों की ऐसी बलवती देखी गई है कि लोगों द्वारा सिद्धांती माने जाने ही के लिये वे सबसे बड़े सिद्धांतों को हँसते हुए चकनाचूर कर देवेंगे। जो लोकमान्यता के लोभ से सिद्धांत भंग करने को तैयार नहीं है वह पुरुष सच्चा वीर कहलाने के योग्य है। इस विषय का परमोत्कृष्ट उदाहरण हमारे उपनिषदों में *सत्यकाम जबाला का मिलता* है। जिस काल यह पुरुषरत्न अपने गुरु के पास विद्याध्ययनार्थ उपस्थित हुआ तो उन्होंने इसके माता पिता का नाम पूछा। सत्यकाम ने माता का नाम तो जबाला बतला दिया किंतु पिता विषयक प्रश्न का यही सीधा उत्तर दिया कि मेरा पिता अज्ञात है क्योंकि एक बार मेरे पूछने पर मेरी माता ने

कहा था कि, जिस काल तेरा गर्भाधान हुआ था उस मास मेरे पास कई पुरुष आए थे सो मैं नहीं कह सकती कि तू उनमें से किसका पुत्र है। इस उत्तर को सुन कर सत्यकाम का गुरु अवाक् रह गया, किंतु भावी शिष्य की सत्यप्रियता से परम संतुष्ट हो कर उसने आज्ञा दी कि तू ही सत्यप्रियता के कारण अध्यात्म विद्या का सर्वोत्कृष्ट अधिकारी है। इतना कह कर गुरु ने उसे शिष्य किया और सत्यकाम का जवाला नाम रख उसे अपने सब शिष्यों से श्रेष्ठतर माना। समय पर यही सत्यवादी पुरुष ब्रह्मविद्या का सर्वोत्कृष्ट पंडित हुआ। इस पुरुषरत्न का घर सत्य का अवतार था, इसका मन निर्मल था, और इसका बर्ताव उच्च था। इन्हीं बातों से एक जारज पुरुष हो कर भी यह ब्रह्मविद्या का सबसे ऊँचा अधिकारी हुआ। इसीलिये कहा गया है कि मन, बर्ताव और गृह मिल कर मनुष्य का चरित्र बनाते हैं।

वीरत्व का सर्व श्रेष्ठ समय बाल वय है। जितना उत्साह मनुष्य में इस अमूल्य काल में होता है उतना और किसी समय नहीं होता। श्लाघ्य चरित्रवान् मनुष्यों को एक बालक जितना बड़ा मान सकता है उतना कोई दूसरा कभी न मानेगा। बाल वय में मन सफ़ेद काग़ज़ की भाँति होता है। इस पर सुगमतापूर्वक चाहे जो लिख सकते हैं। उदार चरित्रवालों में वीरपूजन की मात्रा अधिकता से होती है और ऐसा प्रति पुरुष किसी न किसी को श्लाघ्य एवं महावीर अवश्य मानता है। केवल महा नीचों को ही संसार में कोई भी श्लाघ्य नहीं समझ पड़ता। जिसमें श्लाघ्य चरित्रपूजन की कामना

सबसे सुगम उपाय आशा ही है। इसी लिये कहा गया कि आशा न छोड़नेवाला स्वभाव भी बहुत ही मूल्य-न है।

स्वार्थ-त्याग वीरता का सबसे बड़ा भूषण है। दास ाव ग्रहण करके यदि कोई विवाह-बंधन में पड़े तो उसके उ कर्तव्य में कुछ न कुछ क्षति अवश्य पहुँचेगी। वीरवर नुमान ने जब भगवान् का दासत्व ग्रहण किया तब आत्म-याग का ऐसा अटल उदाहरण दिखलाया कि जीवन पर्य्यंत भी विवाह ही न किया। इधर भगवान् ने जिस काल यह खा कि इनकी प्रजा इनके द्वारा सीताग्रहण के कारण इन्हें जाति उच्च आदर्श से गिरा हुआ समझती है, तब इन्होंने ाणोपम अर्द्धांगिनी सती सीता तक का त्याग करके अपने जारंजनवाले ऊँचे कर्तव्य को हाथ से नहीं जाने दिया। बाल्यवय में भी अपने पिता की बेमन की आज्ञा मानने तक से इन्होंने तिल मात्र संकोच नहीं किया। आपने यावज्जीवन स्वार्थत्याग और कर्तव्य-पालन का ऊँचा आदर्श दिखलाया, मानो ये सदेह कर्तव्य ही कर पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए थे।

कार्य्य-साफल्य साधारण दृष्टि से तो वीरता का पोषक है, किंतु दार्शनिक दृष्टि से इसका शौर्य्य से कोई भी संबंध नहीं है। दार्शनिक शुद्धता प्रति वास्तविक वीर कर्म में आ जाती है चाहे वह तिल मात्र भी सफल न हुआ हो और साधारण से साधारण पुरुष द्वारा संपादित हुआ हो। एक साधारण सैनिक जो अपने सेनापति की आज्ञा से मोर्चे पर शरीर

ध्यान देता है, दार्शनिक दृष्टि से बड़े से बड़े सिद्धांतों समान है। वीरता के मूल सूत्र कर्तव्य-पालन और स्वार्थ त्याग हैं। बिना इनके कोई मनुष्य वास्तविक वीर नहीं हो सकता। एक बार गोरों के आ जाने से एक एंजिन ड्राइवर वाला अपने एंजिन में रह कर बायलर में पिस रहा। वह मृतप्राय था किंतु उसके होश हवास नहीं गए थे। इस लिये वह जानता था कि बायलर जल्द फट कर उड़ेगा, जो जब और लोग उसे छुड़ाने के लिये प्रयत्न करने लगे तब उसने उन सबको वहाँ से यह कह कर खदेड़ दिया कि मैं तो मरा ही हूँ, तुम सब यहाँ प्राण देने क्यों आए हो, क्यों कि भाप के बल से बायलर अभी फटना चाहता है, जिससे सबके प्राण जाँयगे। मरणावस्था में भी दूसरों के लिये इतना ध्यान रखना वीरता का बड़ा लक्षण है।

वीरत्व के लिये भय का देखना तक ठीक नहीं कहा गया है। इसीलिये हमारे यहाँ वीर को शूर कहते हैं कि अंधे की भाँति वह भय को देख ही न सके। बालक, स्त्री, दीन, दुखिया आदि के उद्धार में वीर पुरुष अपना जीवन तृण के समान दे देवेगा। सच्चा वीर निर्बल, भीत, कातर और स्त्री पर कभी किसी प्रकार का अत्याचार न करेगा। संसार में जिसकी पदवी जितनी ही ऊँची है, उसे उतनी अधिक वीरता दिखलानी चाहिए, क्योंकि उसकी वीरता से संसार का बहुत अधिक लाभ हो सकता है। इन्हीं कारणों से राजा को सब से अधिक वीर होना चाहिए। कहा ही है कि "वीरभोग्या वसुंधरा।" फिर भी छोटे से छोटे पुरुष को भी उच्च सिद्धांतों

से तिलमात्र नहीं हटना चाहिए, क्योंकि थोड़ी सी बुराई भी संसार में अपना फल दिखलाए बिना नहीं रहती। इसीसे कहा गया है कि अनुभवी पुरुष को थोड़े से अवगुण की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, नहीं तो थोड़ा सा अवगुण उसमें अवश्य आ जायगा। ९

बारहवाँ अध्याय ।

न्याय और दया ।

साधारण जनसमाज में न्याय और दया में बड़ा घनिष्ठ संबंध समझा जाता है और दया न्याय का एक प्रधान अंग मानी जाती है । इस स्थान पर हम यही विचार करेंगे कि इनमें वास्तव में क्या संबंध होना चाहिए । तत्संबंधी विचार से जहाँ तक हम समझते हैं इन दोनों में कुछ भी संबंध नहीं, वरन् न्याय के साथ दया का मिलना घोर अन्याय है । वर्तमान काल में न्याय क़ानून के अनुसार बर्ता जाता है । क़ानून में कहीं कहीं त्रुटियाँ हैं, इसी से कभी कभी न्याय के बदले अन्याय हो जाया करता है । जैसे आइन में जान बूझ कर नर-हत्या करने का दंड वध अथवा जन्म भर के लिये कालापानी भोगना है ; परंतु अनुभव से जाना गया है कि ऐसी हत्या करनेवाले भी कभी कभी इस दंड के पात्र नहीं होते, क्योंकि सब बातों का विचार कर के उनका आचरण उतना निंद्य नहीं कहा जा सकता । ऐसी दशा में सरकार ने न्यायाध्यक्षों को उक्त दंड के सिवा अपराधी को अन्य मुलायम दंड देने का अधिकार नहीं दिया । इससे ऐसे अभियोगों के पूर्ण वृत्तांत गवर्नमेंट के पास दया दिखाने के लिये भेज दिए जाते हैं । यदि सरकार उचित समझती है तो अपराधी पर दया करती है । फिर या तो उसे बिलकुल

ही दंड नहीं देती, या दंड की मात्रा समुचित रीति पर घटा देती है। इसी प्रकार अन्य अपराधों के संबंध में भी कभी कभी सरकार के पास रिपोर्ट जाती है, अथवा स्वयं अपराधी ही क्षमा किए जाने के लिये सरकार के पास विनय-पत्र भेजता है। इस प्रकार की दया को दया कहना ही ठीक नहीं। सरकार निम्नलिखित तीन दशाओं में ही अपराधी को क्षमा-प्रदान करती है, अर्थात्—

(१) जब कई राजनैतिक कारणों से अपराधी का दंडित होना सरकार को अभीष्ट न हो।

(२) जब अदालत की इच्छा रहते हुए भी मुलायम दंड देने का अधिकार अदालत को न हो, और सरकार भी अदालत से सहमत हो।

(३) जब सरकार की निगाह में न्यायाध्यक्ष की भूल से किसी को अनुचित कठोर दंड मिलने की आज्ञा हो गई हो।

इन तीनों दशाओं में से किसी में भी दया की झलक तक नहीं। प्रथम में राजनैतिक, न कि दया संबंधी, कारणों से अपराधी दंडित नहीं होता; दूसरी में न्यायाध्यक्ष को पूरा न्याय करने का अधिकार नहीं, सो मानो सरकार उसके आसन पर बैठ जाती है, और तृतीय दशा में सरकार न्यायाधीश की भूल को ठीक कर देती है। किसी अपराधी का दया द्वारा छूटना तभी कहना चाहिए जब उसके छुटकारे का कोई अन्य कारण वर्तमान ही न हो। ऐसी दशा में सरकार अपराधी को कभी क्षमा नहीं करती।

अब यह प्रश्न उठता है कि न्यायाध्यक्ष को किसी अ समुचित कारण की अनुपस्थिति में अपराधी पर दया क चाहिए या नहीं। इस विषय में सबसे प्रथम तो र वक्तव्य है कि आइन के अनुसार सिवा सरकार के किसी को न्याय में दया करने का अधिकार नहीं है, अतः न्यायाध्यक्ष को दया से कोई सरोकार नहीं, और बिना बेईमानी किए वह दया नहीं कर सकता। फिर केवल दया के कारण दंड न दिए जाने के फल बड़े ही भयंकर होते हैं। रूस, इटली तथा बेलजियम देशों और जर्मनी तथा स्विट्‌ जरलैंड के कतिय प्रांतों में किसी को प्राणदंड नहीं दिया जा सकता। फ्रांस और अमेरिका में प्राणदंड की आज्ञा शायद ही कभी होती हो और आज्ञा होने पर भी अपराधी अधिकतर दशाओं में क्षमा कर दिया जाता है। फ्रांस में कालेपानी भेजे हुए लोगों की दशाएँ ऐसी अच्छी समझी जाती हैं कि इस दंड का आनंद लूटने ही को बहुतों ने जिनकी दशा उस देश में अच्छी न थी, नर-हत्याएँ कर डालीं और अदालत में यही बयान भी कर दिया। एक स्त्री ने अपने सोते हुए पति को गोली से मार डालने के अपराध में केवल पांच साल की सजा पाई। रूस में एक मनुष्य ने दो खून करने के अपराध में केवल यही दंड पाया कि वह आठ साल साइबेरिया में रहे। १९०३ ई० में अमेरिका के शिकागो शहर में ११८ खून हुए और लंडन में जो शिकागो से तिगुना है, केवल २० हत्याएँ हुईं। अमेरिका के जार्जिया प्रदेश में १०० हत्यारों में से केवल एक को फांसी होती है, पर इंगलैंड

में एक तिहाई हत्यारों के प्राणदंड पा जाने का परवा बैठता है। लेखों से ज्ञात हुआ है कि भयंकर बोर युद्ध में जितने अँगरेज मारे गए, उनके प्रायः आधे मनुष्य यूनाटेड-स्टेट्स अमेरिका में प्रति वर्ष हत्यारों द्वारा प्राण खो बैठते हैं। १९०० ई० में उक्त देश में ८००० मनुष्य हत्यारों के हाथों से मारे गए, पर केवल ११७ हत्यारों को फांसी हुई। इन सब बातों से प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि न्याय के साथ दया जितनी ही मिलाई जाती है, उतना ही अन्याय एवं अत्याचार प्रबल हो उठता है। होना ही चाहिए। अत्याचार तो केवल दंड के भय से रुकता है; जब दंड का भय ही नहीं, जब यह आशा है कि अत्याचार कर के किसी न किसी प्रकार दंड से बच जाँयगे, तब अत्याचार क्यों न बढ़े? अतएव अदालत के सम्मुख यह प्रश्न [illegible] है कि या तो अपराधी को दंड दो,

चार करने पर। इससे प्रतिवादी को पूर्ण दंड मिल जाने पर भी वादी का पूरा बदला नहीं चुकता।

हर मनुष्य को यह नैसर्गिक अधिकार है कि वह अपने ऊपर अत्याचार करनेवाले से पूरा बदला ले। पर इसमें भय रहता है कि वह या उसके स्वजन आत्म-स्नेह के कारण अपराधी को उचित से बहुत अधिक दंड दे डालेंगे। अतएव सरकार ने सताए हुए लोगों से यह अधिकार अपने हाथ में ले लिया है। ऐसी दशा में यदि अदालत अपराधी पर दया करके उसे उचित दंड न दे, तो सताए हुए निर्दोषी मनुष्य के साथ बड़ी ही निर्दयता का व्यवहार होगा। इससे स्पष्ट है कि यदि किसी मनुष्य को अपराधी पर दया करने का अधिकार हो सकता है, तो वह वादी है। इससे बिना उसकी स्पष्ट सम्मति के हाकिम को अपराधी पर दया करने का ज़रा भी अधिकार नहीं। न्यायाध्यक्ष कभी कभी सर्वप्रिय होने तथा नेक, रहमदिल, और ग़रीबपरवर कहलाए जाने के लालच से अत्याचारियों पर दया कर बैठते हैं, पर वे नहीं सोचते कि इस मानसिक निर्बलता और क्षुद्र आत्म-स्नेह के कारण वे मुद्दई (वादी) पर कितना घोर अत्याचार कर रहे हैं। "सर्वप्रिय" होना, अथवा "नेक, रहमदिल, ग़रीबपरवर" कहलाना भी हमारे सुख की वैसी ही सामग्रियाँ हैं, जैसे दानी होना, उत्तम भोजन करना, बढ़िया सजावट के मकान और सवारी आदि रखना, इत्यादि। इनमें किसी से तो मानसिक सुख होता है और किसी से दैहिक। सो जैसे की अन्य सामग्रियों का मूल्य होता है, वैसे ही "रहम-

ल" आदि कहलाने की भी कीमत अवश्य देनी पड़ती है, रंतु खेद यह है कि ऐसा बहुमूल्य सौदा तो न्यायाध्यक्ष जी खरीदा, पर उसकी कीमत उन्होंने स्वयम् न देकर बेचारे निरपराधी सताए हुए वादियों से उनकी इच्छा के प्रतिकूल दिलाई। धिक्कार है ऐसी "सर्वप्रियता, नेकी, रहमदिली और गुरबापरवरी" पर। यदि वादी के बदले न्यायाधीश ही पर वही अथवा उससे भी छोटा अत्याचार हुआ होता तो वे अपनी "अगाध दया" को एकदम भूल जावे और अपराधी का रक्त ही चूस लेने को प्रस्तुत होवे। परंतु दूसरे पर अत्याचार होने से उनकी यह सुनने की इच्छा बलवती हो उठती है कि "भाई! अमुक हाकिम बड़ा ही रहमदिल है," इत्यादि। दया करनेवाले हाकिम को हम डाकू से भी बुरा समझते हैं, क्योंकि वह सौदा (नेकनामी आदि) खरीद कर एक बार के सताए हुए निरपराधी वादी को लुटवा और उससे अपने सौदे का मूल्य दिला कर उसपर दूसरा अत्याचार करता है। वादी पर एक अत्याचार तो सताए जाने का हुआ, दूसरा बदला न मिलने का। हमारी समझ में तो यदि कोई ऐसी कल होती जो साक्षी इत्यादि के कथन सुन कर उन पर ध्यान दे उचित निष्कर्ष निकाल कर अपराधी को समुचित दंड दे सकती, तो वह सर्वोत्तम न्यायाधीश होती। जो न्यायाध्यक्ष अपनी मानसिक दुर्बलताओं को छोड़ कर इस कल की जितनी ही बराबरी कर सके, वह उतना ही अच्छा हाकिम होगा। अतएव हमारी समझ में अत्याचार-विवर्द्धिनी दया का न्याय से

कुछ भी संबंध न होना चाहिए। हम यह नहीं कहते कि अदालत को अपराधी पर अनुचित कठोरता करनी चाहिए, पर उचित दंड न देना भी वैसा ही पाप है जैसा अनुचित दंड दे डालना।

अब तक हमने न्यायालय संबंधी दया और न्याय पर विचार किया है। इससे प्रिय पाठकों को ऐसा भ्रम हो सकता है कि हम दयाहीन न्याय का पक्ष प्रतिपादित करते हैं। यह कदापि ठीक नहीं। सत्पुरुषों ने दंड के विधान में ही दया का पूरा समावेश किया है। सबसे पहला विचार यही है कि मनुष्य को जहां तक हो सके दंड मिलना ही न चाहिए, क्योंकि दुःख देना समाज का काम नहीं है। फिर भी रोग होने पर वैद्य न चाहते हुए भी रोगी को कटु औषध देता है। ऐसी ओषधि दे कर रोगी को कष्ट देना वैद्य को अभीष्ट नहीं, किंतु स्वास्थ्य शुद्धीकरण के लिये वह आवश्यक है। अतः कटु औषध एक आवश्यक दुःख है जिसका होना रोगी की ही भलाई के लिये अनिवार्य्य है। यही दशा आचार शुद्धीकरण के लिये न्यायालय संबंधी दंड की है। दंड भी समाज और व्यक्ति दोनों के लिये कटु औषध है। दंड कभी केवल समाज शुद्धीकरणार्थ होता है और कभी समाज तथा व्यक्ति दोनों की शुद्धि इसके द्वारा होती है।

यह विषय अत्यंत सुगम नहीं है जो हम यथार्थ उदा- हरण के साथ इसका वर्णन उचित समझते हैं। हिंदू धर्म शास्त्र में लिखा है कि जब अपराधी राजदंड पा जाता है,

तब उस दोष के लिये ईश्वर के यहां वह दंडित नहीं होता अर्थात् राजदंड मरणांतर संबंधी लगनेवाली कालिमा को धो देता है। यह धार्मिक विचार अनुमानसिद्ध भी समझ पड़ता है। यदि यह मान लिया जाय तो राजदंड सदैव व्यक्ति और समाज दोनों की भलाई के लिये सिद्ध होगा फिर भी आचार शास्त्र के कोई ग्रंथ धर्म, पुनर्जन्म, ईश्व आदि के विचारों को मान कर नहीं चलते, वरन् सीधे तार्कि सिद्धांतों पर ही अवलंबित रहते हैं। इसलिये साधार विचारों से प्राणदंड तथा जीवन पर्य्यंत की कैदवाले केवल समाज शुद्धीकरण के लिये हैं, किंतु शेष सब समाज और व्यक्ति दोनों के हितार्थ दिए जाते हैं।

पहले समय में जब तक सामाजिक विचार उन्नत न हुए थे, लोग नाक के बदले नाक और कान के बदले क काटने का दंड उचित समझते थे। धीरे धीरे जब मनु जाति ने मानसिक उन्नति विशेषता से की, तब ऐसे का दंड दयाहीन एवं अनुचित समझे जाने लगे। लोगों समझा कि अपराधी ने अवश्य दुष्टता से वादी को कष्ट दि है, किंतु समाज तो दुष्ट नहीं हो सकता कि कान काटने बदले कान ही काट लेवे। इसलिये उतनाही दंड योग्य समझा गया कि जो समाज और व्यक्ति के शुद्धीक के लिये काफ़ी हो और जिस के भय से भविष्य के अप अपराध करने से दबे रहें। ऐसे विचार पहले तो दय कारण उठे, किंतु पीछे से सभ्यता के अंग हो कर न्याय सं

ां तक कि समय पर इनका दया से

संबंध न रहा और ये शुद्ध न्याय के अंग हो गए जैसा कि ता- र्किक शुद्धता से इन्हें सदैव होना चाहिए था। पीछे से अधिक सन्नति होने से जन्मकैद की सीमा केवल बीस वर्ष की कैद रह गई, अर्थात् जन्मकैदी यदि बीस वर्ष कारागार भोग चुके, तो वह मुक्त कर दिया जाता है। प्राणदंड के विषय में भी मतभेद उठा। कुछ देशों में यह सिद्ध हुआ कि प्राणदंड किसी दशा में न देना चाहिए। वहां सब से कठोर दंड जन्मकैद ही है। अन्य देशों में अब तक प्राणदंड चलता है।

इन विचारों से यह सिद्ध हुआ कि एक प्रकार से दया न्याय का अंग है, क्योंकि बिना इसके न्याय की पूर्णता नहीं होती। फिर भी तार्किक शुद्धता से विचार करने पर यही सिद्ध हो गया कि दया का वह अंश वास्तविक दया न होकर न्याय ही है। इसीलिये उसे संसार ने दया न मान कर न्याय ही माना है। इससे बढ़ कर यदि न्याय में दया मिलाई जायगी तो वह न्याय अन्याय हो जायगा।

यहाँ तक राजदंड तथा राज्य संबंधी न्याय और दया का विचार किया गया, किंतु अब इसी भाव का व्यक्ति संबंधी कुछ कथन आवश्यक है। वास्तव में न्याय का विचार राज्य और व्यक्ति दोनों पर समान रूप से बाध्य है, किंतु साधारण विचार से राजन्याय ही प्रधान समझ पड़ता है। इसीलिये न्याय का नाम लेते ही सहसा राजन्याय पर ध्यान जाता है। फिर भी व्यक्तिगत न्याय राजन्याय से कम सारगर्भित नहीं है। अब इसी का कुछ विचार हम आगे

न्याय का मूल सूत्र साम्य है। कर्तव्य-शास्त्र का यह
से बड़ा अंग है। बिना इसके कोई भी आचार शुद्ध
कहा जा सकता। सबके साथ यथायोग्य व्यवहार का
ही न्याय है। यथायोग्य व्यवहार क्या है, इस का
र सरल नहीं है। इसी प्रश्न के समुचित उत्तर पर सारे
ों, समाजों, राज्यों, व्यापारों, कुटुंबों आदि के सिद्धांत
र हैं। इसलिये ऐसे वृहत् विषय का कथन न्याय के
र्गत नहीं हो सकता। एक प्रकार से इस ग्रंथ का लक्ष्य
ी प्रश्न का यथोचित उत्तर देना है। वास्तव में पूर्ण न्यायी
ई भी धार्मिक,सामाजिक कौटुंबिक, राजनैतिक आदि किसी
कार का अपराध नहीं कर सकता। इसीलिये न्यायाध्यक्ष
ा पद बहुत ऊँचा माना गया है। प्रत्येक मनुष्य का यह
वित्र कर्तव्य है कि यथासंभव न्याय को हाथ से न
ाने देवे। जिसके साथ जैसा व्यवहार उचित है, वैसा
ी करना कर्तव्य-पालन है।

किसी उपकेक का अर्थमानव की भाँति पूजन करना वैसा
ही गर्हित है जैसा कि पूज्य का पूजन-भंग। किसी के साथ
ऐसा व्यवहार न हो जिससे आप की प्राचीन कार्रवाई को
सोचते हुए कोई नवीन पुरुष आश्चर्य कर सके, और यदि कभी
ऐसे आश्चर्य होने का समय आवे भी तो वह आप के महत्त्व
वर्द्धन संबंधी भले ही हो किंतु प्रतिकूल कभी न होना चाहिए।
जिसने आप के साथ जितनी भलाई कर रक्खी है, समय पर
उसके बदले वह जितनी आशा कर सकता है, उससे कमी
आप के आचरणों से कभी न प्रकट होनी चाहिए। [illegible]

एवं बदला लेने की वृत्तियों में चाहे जितनी कमी हो जाय, वह सब अच्छी है, किंतु भलाई की ओर कमी का होना सर्वथा अनुचित है।

यहां तक तो व्यक्ति संबंधी न्याय का सूक्ष्म कथन हुआ। अब यह प्रश्न उठता है कि इस न्याय में दया कहाँ तक मिल सकती है। ऊपर कहा जा चुका है कि राज्यन्याय में दया का मिलाना अन्याय का कारण होता है। व्यक्ति संबंधी न्याय से राज्यन्याय का यही अंतर है कि पहले में दया का मिलना न केवल संभव, वरन् बहुत अच्छा है। व्यक्तिगत न्याय का राज्य संबंधी न्याय से यह भारी अंतर है कि पहले में वादी स्वयं न्यायकर्ता होता है, किंतु दूसरे में वादी तो कोई व्यक्ति होता है किंतु न्यायकर्ता राजा। जो अपराध राज्य के प्रतिकूल होता है, उसमें भी कहने को तो राजा ही वादी होता है किंतु वास्तव में सारे प्रजावर्ग वादी हैं, क्यों कि राजा उनका प्रतिनिधि मात्र है। राज्य की स्थापना राजा के सुखार्थ नहीं है वरन् प्रत्येक राज्य सर्वसाधारण के लाभार्थ स्थिर है और उन्हीं का उस पर पूर्ण स्वत्व है। राजा तो उनका प्रतिनिधि मात्र हो कर उनके भले के लिये उसे चलाता है। इसलिये राजा राज्य के प्रतिकूल भी कोई अपराध केवल इच्छा से क्षमा नहीं कर सकता, वरन् उस क्षमा प्रदान के भी अच्छे कारण होने चाहिएँ। यदि राजा को समझ पड़े कि अपराधी का आचार-शुद्धीकरण दंड की अपेक्षा क्षमा से विशेष होगा, तो उसका कर्त्तव्य है कि प्रत्येक अपराध में क्षमा प्रदान करे। किंतु यह क्षमा दयावश न

कर न्याय का एक प्रधान अंग मानी जायगी। इधर कोई
क्ति अपने तथा अपने लड़के बालों के प्रतिकूल कोई अप-
ध उदारता से भी क्षमा कर सकता है। ऐसी क्षमा मनुष्यत्व
भूषण तथा लोकोन्नतिकारिणी होती है। जो अपराधी
ाक्तिगत क्षमाओं को उदारता न समझे और उन्हें कादरता
ान कर नए नए अपकार करता ही जाय, उसे राज्य संबंधी
्मा का भी पात्र न समझना चाहिए। इसलिये व्यक्तिगत
्मा एक प्रकार से राज्य संबंधी क्षमा के लिये कसौटी क
ाम करती है।

दया भी कई प्रकार की होती है। बहुत स्थानों पर व
निर्बलता की सहगामिनी होती है और उसी का चिह्न समझ
जाती है। जो मनुष्य अपने में बदला लेने की शक्ति न दे
कर किसी का अपराध सामर्थ्याभाव से अवश्य क्षमा कर
है, उसकी क्षमा वास्तव में क्षमा है ही नहीं। फिर भी मू
में यह बानि प्रायः देखी गई है कि वे उदारता संबंधी द
को भी कादरताजन्य मान कर उससे तादृश लाभ न
उठाते। ऐसे नराधमों के लिये दया का प्रयोग ऐसा है जै
शूकरों के आगे मोतियों का रखना। फिर भी ऐसी दशा
में भी दया के अभाव को क्रोध से कभी न मिलाना चाहि
आप किसी पर दया न करने का अधिकार रखते हैं
क्रोध करने का नहीं। उचित स्थानों पर भी दया न कर
केवल उदारता का अभाव माना जायगा, पातक नहीं,
किसी भी स्थान पर क्रोध करना पातक है जैसा कि आ
अध्याय में दिखलाया जायगा। इसलिये दया के अभाव

क्रोध में जो अंतर है वह सदा ध्यान में रखना चाहिए।

कुल बातों का सारांश यह है कि दया और न्याय में कोई तार्किक संबंध नहीं है, राज्य संबंधी न्याय दया से मिलने से अन्याय हो जाता है, व्यक्ति संबंधी न्याय का दया भूषण है, किंतु दया का अभाव अन्याय न होने से कोई पातक नहीं है। इसे क्रोध से सदैव पृथक् रखना चाहिए।

तेरहवाँ अध्याय।

क्रोधशांति।

। लोग जानते हैं कि क्रोध बुरा होता है उससे हानि
: कोई भी लाभ नहीं हो सकता। इसलिये जहां
पं इससे दूर ही रहना चाहिए। पर उसका
ा भी कोई कम कठिन काम नहीं है। एक प्रसिद्ध
ने कहा है कि बुद्धिमान वह है जिसपर मर्मभेदी
ा प्रभाव ही न हो। भला यह भी कोई बुद्धिमानी
। है कि आप ऐसा सुनते ही जामे के बाहर हो जाँय
ुक व्यक्ति ने आपके विषय में यह कहा था कि आप
या आपका मुख सुडौल नहीं बना है, या आप में गंभी-
ाहीं है ? बुद्धिमान और गंभीर लोग वे ही हैं जिन्हें क्रोध
। ही नहीं, अथवा जो अपने क्रोध को ऐसा दबा देते हैं
ह किसी पर प्रगट नहीं होने पाता। छोटी छोटी बातों
ान की दुर्बलता को प्रगट करता
.क सहस्रोंबार मनुष्यों की अपेक्षा

क्रोध आ घेरता है। इन सब बातों से स्पष्ट विदित है कि क्रोध दुर्बलता का चिह्न है और वह उन्हीं लोगों विशेष रूप से व्यथित करता है जो ओछे अथवा अदू के होते हैं। इसलिये प्रत्येक समझदार स्त्री पुरुष का का कि जहाँ तक बन पड़े वह क्रोध के वश हो कर अपना अ पन-संसार पर न प्रकाशित करे। क्रोध वे ही लोग हैं जिनमें कुछ न कुछ छिछोरापन और दुर्बलता होती है जो जितना ही बड़ा और गंभीर होगा उसमें उतना ही क्रोध पाया जायगा। इससे आप जितना कम क्रोध प्र शित करेंगे उतना ही आपको लोग बुद्धिमान और प्रति मानेंगे। भला ऐसा कौन स्त्री पुरुष होगा, जिसकी यह वारिक इच्छा न हो कि लोग मुझे भला समझें, पर थो ऐसे बहुत कम लोग हैं जो अपने क्रोध को सम्हाल स हों। इसीसे विदित होता है कि क्रोध का सम्हालना प बड़ा ही कठिन काम है, नहीं तो सभी लोग उसे अपने व कर भले कहलाने लगते।

ईश्वर की कुछ ऐसी लीला है कि वह जल्दी समझ नहीं आती। हम अनेक काम इस विचार से करते हैं कि लो हमें बड़ा और प्रतिष्ठित समझें, पर प्रायः देखा गया है कि उन्हीं कामों से वास्तव में उलटे हमारी तुच्छता संसार पर विदित होती है। क्या आपने कभी यह नहीं देखा है कि एक मनुष्य इस कारण जामे के बाहर हो गया था कि उसे किसी समाज में उचित स्थान पर नहीं बिठलाया गया? ऐसी दशा समझदार लोग उस अपने को बिल्कुल भूल कर गुस्से में

अनुचित बातें करते देखे गए हैं कि लोगों ने समझ
ा कि उनमें तुच्छता की मात्रा बहुत है। उस विचारे ने
तो इसलिये किया कि उसे लोग प्रतिष्ठित समझें पर
उलटा यह हुआ कि जो कुछ लोगों की दृष्टि में उसकी
ष्ठा थी सो भी नष्ट हो गई।

कहा जाता है कि 'भक्तमाल' के कर्ता महात्मा नाभा
स जी के यहाँ एक बेर उस समय के प्रायः सभी महात्मा
ट्ठे हुए। उस समय कुछ लोगों ने कहा कि यह तो अच्छी
क्तमाल' इकट्ठी हुई है, पर कहीं इसका सुमेर भी खोजना
हिए। इस पर यह विचार हुआ कि कहीं कोई भक्तशिरो-
णि ढूंढ़ा जाय जिसमें 'भक्तमाल' पूरी हो जाय। अस्तु, यह
त उस समय वहीं पर रह गई और भक्तजनों की जेवनार
ा प्रबंध होने लगा। परोसते समय पत्तलवाला श्री गोस्वामी
लसी दासजी के सामने, जो पंक्ति के एक किनारे बैठे थे
ौर जिन्हें बीच में सब से बड़ा बन कर बैठने की लालसा
ं थी, पत्तल रखना भूल गया। जब परोसनेवाला उन तक
हुँचा तो वह लगा सोचने कि किस वस्तु में मैं इन्हें भोजन
रोसूं! गोस्वामी जी ने पट समाज से थोड़ा सा और अलग
खिसक कर एक भक्त का जूता उठा लिया और उसे परोसने-
वाले के आगे करके कहा कि—'भला इससे बढ़ कर मेरे लिये
और पात्र क्या हो सकता है! इसी में आप सहर्ष मेरा अंश
परोस दीजिए क्योंकि यह तो एक भक्त का जूता है।' ऐसा
देख सुन कर लोग सन्नाटे में आ गए, पर महात्मा नाभा-
दास जी दौड़ कर गोस्वामी जी के पैरों पर गिर पड़े और सब

भक्त जनों से कहने लगे कि "हम लोग अभी 'भ
लिये 'सुमेर' ढूंढ रहे थे सो वह सुमेर तो हम लो
यहीं उपस्थित है।" ऐसा सुन सभी भक्तजन एक स्व
लगे कि 'सचमुच गोस्वामी जी ही 'भक्तमाल' के
और सब उठ उठ कर उन्हें दंड प्रणाम करने लगे।
गोस्वामी जी भक्तों के सुमेर कहलाए। अब हम पू
यदि गोस्वामी जी सब से ऊँचे न विठलाए जाते
समाज से उठ कर वाहियात बातें बकते हुए च
उनकी उस समय क्या प्रशंसा बढ़ती और आज
क्या यश होता ?

प्रसिद्ध कवि मलिक मुहम्मद जायसी काने
थे। एक वेर एक राजा उन्हें देख कर मुस्कराया।
ने उसकी मूर्खता समझ कर क्रोध के बिना वड़े
से इतना ही पूछा कि 'मोहि का हँसेसि कि कोहरै
हे राजन्! तू मुझ मिट्टी के पुतले पर हँसता है अ
कुम्हार (अर्थात् ब्रह्मा) पर जिसने मुझे अपने इ
बनाया है ?' राजा लज्जा से सिर नीचा कर जायसी
मांगने लगा और उसे अपनी मूर्खता पर बहुत
पड़ा। सच है, यदि कोई मनुष्य अंधा, काना, काल
अथवा और किसी प्रकार से कुरूप हो, यदि उस
सुडौल न हो, यदि उसका मुँह कुछ टेढ़ा हो, यदि
दांत कुछ खुले रहते हों तो इसमें उसका क्या दोष
इन त्रुटियों के कारण चिढ़ाने से क्या चिढ़ानेवाले
मूर्खता विदित नहीं होती ? पर यदि कोई मनुष्य इ

किसी को छेड़े और वह दूसरा मनुष्य उस पर ताव पीता
लगे तो समझ लेना चाहिए कि दो मूर्खों का सामना
हुआ है। फ़ारसी के प्रसिद्ध कवि शेख़ सादी ने क्या ही
अच्छा कहा है—

"दो बुद्धिमानों में लड़ाई दंगा नहीं होता और न एक
समझदार आदमी किसी ओछे आदमी से ही झगड़ा करता
है। पर यदि कहीं दोनों ही ओर मूसरचंद जुट गए, तब तो
ज़ंजीर से बाँधे जाने पर भी वे तुड़ा तुड़ा कर अवश्य ही एक
दूसरे का सिर तोड़ेंगे।"

लोग छेड़ते और चिढ़ाते उसी को हैं जो चिढ़ता है।
सभी जगह ऐसे दो एक मनुष्य होते हैं जो चिढ़नेवाले प्रसिद्ध
हैं। आप देखिएगा कि सब लोग छाँट छाँट कर उन्हीं को
छेड़ते हैं, क्योंकि उन्हें छेड़ने से लोगों को आनंद मिलता है।
लोग छेड़े जाने से खूब चिढ़ते और छेड़नेवालों को भली बुरी
बातें कहते हैं, यहाँ तक कि कभी कभी वे चिढ़ानेवालों को
मारने तक दौड़ते और मार भी देते हैं। पर वैसे ही दिल्लगी-
बाज़ लोग जिन्हें अपनी प्रतिष्ठा की भी कुछ परवाह नहीं
होती, उनको और भी अधिक चिढ़ाते और बनाते हैं। यदि
कभी ठठोल ने किसी समझदार मनुष्य के साथ कभी छेड़-
छाड़ की और दूसरा कुछ भी न चिढ़ा, तो उल्टे उसी छेड़ने-
वाले को लज्जित होना पड़ता है और फिर वह आदमी को
वह कदाचित् कभी नहीं छेड़ता। सच है छेड़ने का आनंद
तभी आता है जब उसको बहुत खूब चिढ़ें और बिदकें।

विचार करने से ज्ञात होगा कि वास्तव में कोई एक

प्रकार का उन्माद है, क्योंकि दोनों के लक्षण बहुत कु
हैं। दोनों ही दशाओं में आँखें और चेहरा लाल
हैं, मुँह से ठीक वाक्य नहीं निकलते, शरीर काँपत
उचितानुचित का विचार नहीं रह जाता। क्रोध
में लोग बड़ों और प्रतिष्ठितों तक को गालियाँ देने लगे
अपने ऊपर आघात कर बैठते, देव पितरों को भला
और जगदीश्वर तक को गालियाँ दे बैठते हैं! ह
कर्कशा स्त्री को देखा है जो एक बार अपने पति
बिगड़ी कि मारे क्रोध के उसने अपने सौभाग्य-चिह्न
को तोड़ डाला और अपनी बिरादरी में घर घर
कि "फलाँ पांड़े आज मर गए" यद्यपि पति भला
में बैठा था! क्रोध में लोग अपने होंठ काटते, कप
और अपने को तमाचे लगाते देखे गए हैं। भला
पागलपन नहीं तो और क्या कहा जा सकता है?

अन्य प्रकार के जितने दोष हैं, वे प्रायः सभी
छिपाए जा सकते हैं, पर क्रोध ऐसा नहीं है
लगाने से जान पड़ेगा कि क्रोध से संसार की जि
हुई है उतनी और किसी बात से नहीं हुई। इस
हो कर लोग न जाने क्या क्या अनुचित कार्य कर
जिन्हें कहते संकोच होता है। जैसे जमीन पर
से लड़के उसे मारने लगते हैं, इसी तरह क्रोधी लोग
पदार्थों पर भी अपना क्रोध उतारते हैं। लैंप अ
नहीं जलता और कई बार सुधारने पर भी ठीक न
... ... वो: इस कपड़े का दाग बहुत छुड़ाने प

बस कपड़े को फाड़ कर फेंक दो; छाता बार बार ठीक रखने पर उलट कर गिर पड़ता है, उसे तोड़ डालो; घड़ी बार बार सुधारने पर भी ठीक समय नहीं बतलाती, उसे पटक दो; यह पुस्तक बहुत अशुद्ध छपी, इसे फूँक दो; इस प्रकार के काम क्रोधियों के लिये कोई असंभव नहीं हैं। ऐसे ही लोग जानवरों पर क्रोध करने लगते हैं और उन्हें बिना कारण ही दंड दे डालते हैं। यदि कोई घोड़ा ठोकर ले लेवे अथवा लात मार दे तो उसे इसके बदले में पीटने से क्या लाभ? क्या वह घोड़ा जान जायगा कि मैं इस कारण पीटा गया? क्रोधी लोग ईश्वर तक पर ऐसे ऐसे कारणों से कुपित हो जाते हैं कि उसने वर्षा अच्छी नहीं की! अथवा जाड़ा बहुत कर दिया!! अथवा उन्हें रुपएवाला न बनाया!!! वे यह नहीं समझते कि संसार केवल मनुष्य ही के लिये नहीं बना है; इसमें करोड़ों प्रकार के जीव हैं और ईश्वर अथवा प्रकृति वही करती है, जिसमें सब का कल्याण हो। ऐसी दशा में मनुष्य का ईश्वर पर क्रोध करना वैसा ही है जैसे चिँउँटे उस पर इस कारण बिगड़ जाँय कि उसने संसार भर में गुड़ ही गुड़ न रख दिया, अथवा हलवाइयों की मठोरों में उसने छिद्र न बना दिए! कभी कभी देखा गया है कि क्रोध में अंधे हो कर लोग ईश्वर से यह प्रार्थना करने [illegible] हैं कि वह उनका अथवा उनके संतान का सर्व-
[illegible] ले, उनकी लक्ष्मी हर ले, उनका सभी कुछ
[illegible]! वे [illegible] ना ही मुँह पीटने लगते हैं, भोजन
[illegible] रह जाते हैं, और ऐसे ही अनेक

अनर्थ कर बैठते हैं, पर तो भी अपनी होश को ठिकाने
हैं !! निदान ऐसी बातें करना यदि उन्माद नहीं तो

सुना जाता है कि रोम के एक राजा ने अपने
चढ़ाई की, पर राह में एक नदी के घुमाव ने दो
उसे रुकावट डाली। इस पर गुस्से में आ कर
आज्ञा दी कि इस नदी को पटवा कर, तब आगे
इस तरह जब तक वह नदी पटवाता रहा, उस
मौके से आ कर उस पर हमला किया और उसे से
नष्ट कर डाला। भला ऐसी मूर्खता का और क्या
हो सकता था ?

कुछ लोगों का मत है कि अपने ही लिये जो क्रो
होता है वह तो अवश्य बुरा है, पर जो क्रोध अन्य
पर कोई अत्याचार होते देख कर उभड़ता है, वह
इसमें संदेह नहीं कि औरों के दुःख से दुखी होना
का चिह्न है, पर कोई आवश्यकता नहीं कि ऐसे
भी हम क्रोध के जाल में फँसें। क्रोध किए बिना
औरों के दुःख निवारण कर सकते हैं और अत्या
सकते तथा उसका बदला ले सकते हैं। आईन
को दंड दे सकती है जो दूसरों पर अत्याचार करते
क्या आईन के संस्थापक अथवा उसके परिचालक
से कुपित होते हैं ? दंड भविष्य के सुधार के विचार
जाता है। इसलिये उसके लिये वे दंड की व्यव
कारण से करते हैं कि वह अथवा कोई अन्य मनुष्य
को न सतावे और किसी प्रकार का अपराध न क

उस पर क्रोधित कदापि नहीं होवे। विचारवान् लोग ऐस
दशा में क्रोध से नहीं वरन् बुद्धि से काम लेते हैं और शां
भाव से विचारते हैं कि अपराधी को कितना दंड देना उचि
होगा और किस प्रकार का दंड ठीक होगा? भला क्रोध
शांति और विचार कहाँ?

क्रोध प्रायः तीन प्रकार का होता है-(१) निर्जीव पदार्थ
जड़ जीवों और निर्बोध बालकों पर, (२) साधारण उपहा
करनेवालों पर और (३) वास्तविक निंदकों, हानिकार
और अपराधियों पर। हम ऊपर लिख आए हैं कि निर्जी
पदार्थ पर क्रोध करना एक प्रकार का निरा पागलपन है औ
यही बात जानवरों तथा बालकों पर क्रोध करने के विषय
भी कही जा सकती है। साधारण उपहास करनेवालों प
क्रोध करने से मनुष्य सचमुच हँसी का काम करता है य
भी लिखा जा चुका है। अब केवल तीसरे प्रकार के क्रो
पर लिखना रह गया है, जिसका सम्हालना ही कठि
काम है।

सब से पहले इस बात का विचार रखना चाहिए
क्रोध किसी दशा में भी अच्छा नहीं। उससे कभी को
लाभ संभव नहीं, पर हानियाँ अनेक होती हैं। क्रोध
मनुष्य की विचारशक्ति बिल्कुल जाती रहती है और बि
विचारे जो काम किया जायगा वह कभी ठीक नहीं उत
सकता। इसलिये जो काम क्रोध की अवस्था में किया जाय
उसका बिगड़ जाना ही निश्चित समझना चाहिए, वह क
बन नहीं सकता। आदमी को क्रोध तभी आता है जब

को ऐसा जान पड़ता है कि किसी मनुष्य ने कोई अनुचित काम किया और उसकी यह इच्छा होती है कि उस अनुचित बात का बदला लेवे। ऐसी दशा में पांच प्रश्नों का ठीक ठीक निश्चित होना परमावश्यक है और हमको जब किसी बात पर क्रोध आवे तब उचित है कि नीचे लिखे पांच प्रश्नों पर भली भाँति शांति के साथ विचार कर लेने पर अपराधी से उचित बदला लें या जैसा निश्चय करें उसके अनुसार कार्य किया जाय।

(१) उसने वास्तव में वह काम किया या नहीं जिसके सुनने से हमें क्रोध आ सके ?

(२) वह काम वास्तव में अनुचित है या नहीं ?

(३) यदि है तो क्या हममें इतनी महानुभावता नहीं है कि हम उसे क्षमा कर दें ?

(४) यदि नहीं तो उस अपराध का किस प्रकार बदला लेना चाहिए !

(५) अपराधी को कैसा और कितना दंड देना चाहिए ?

क्रोध की दशा में विचारशक्ति से हाथ धोए हुए कोई मनुष्य इन गूढ़ प्रश्नों को कैसे हल कर सकता है ? फल यही होगा कि आँख पर पट्टी बाँध कर क्रोधी मनुष्य जो न कर डाले थोड़ा है। क्या अनेक बार ऐसा नहीं हो जाता कि एक बात हमें पहले तो अनुचित जँची पर विचार और अनुसंधान करने पर स्पष्ट विदित हो गया कि हम भूलते थे और वास्तव में वह अनुचित बात हुई ही नहीं अथवा वह बात वास्तव में अनुचित न थी ? पर यदि हम यह सोचते ही कि

इस आदमी ने यह अनुचित बात की, बिना किसी प्रकार व
जाँच किए क्रोध से भर जावें, तो हम कैसे जान सकेंगे f
किसी बात को अनुचित समझ हम उससे भी तो कोई अधि
अनुचित कर्म नहीं किए डालते हैं ? इसलिये इन पांचों प्रश
के उत्तर देने के लिये हमें बुद्धि से काम लेना चाहिए न f
क्रोध से। ये सभी प्रश्न बड़े गूढ़ हैं और क्रोध की दशा
इन पर कभी ठीक विचार नहीं हो सकता। बड़े शांत-भा
से बुद्धि द्वारा ही इन प्रश्नों के उत्तर दिए जा सकते हैं, ना
तो फल यह होगा कि या तो हम किसी निर्दोष मनुष्य व
दोषी मान बैठेंगे, अथवा क्षमा करने योग्य अपराधों के बद
में विचारे अपराधी को कोई बड़ी हानि पहुँचा दें अथवा उ
बहुत अधिक या अनुचित दंड दे देवें या ऐसा चूकें कि अप
राधी दंड से एकदम बच जाय और कदाचित् उल्टे हम
को हानि पहुँचे। इससे ऐसी दशा में क्रोध से काम लेने
हम अपने प्रतिद्वंद्वी के साथ बहुत विशेष अन्याय करेंगे औ
संभव है कि स्वयम् अपनी ही हानि कर लेंगे।

आपने पढ़ा होगा कि महाभारत के भयंकर युद्ध में कर्ण प
के दूसरे दिनवाले घोर संग्राम में वीरशिरोमणि कर्ण ने महारा
युधिष्ठिर के छक्के छुड़ा दिए थे और ऐसे तीर चलाए थे f
जिससे उक्त महाराज मार पीड़ा के रणभूमि से भाग कर अप
डेरे को चले गए। इधर उनका बलवान् अनुज अर्जुन युद्ध-स्थ
में दूसरी ओर से आ कर सहोदर का यह समाचार सुन स
स्नेह के उन्हें देखने के लिये डेरे की ओर यह विचारत
चला कि अपने प्रिय ज्येष्ठ बंधु के दर्शन कर युद्ध-क्षेत्र व

लौट कर्ण का वध कर डालूँगा। पर अर्जुन को देखते ही महाराज युधिष्ठिर को ऐसा जान पड़ा कि अर्जुन कर्ण को मार उन्हें श्रवणांमृत समाचार सुनाने आया है। बस ऐसा विचार कर धर्मराज लगे अर्जुन की प्रशंसा करने। अर्जुन ने उनसे निवेदन किया कि "महाराज ! मैं अभी कर्ण को मार नहीं आया हूँ, पर आप के दर्शन कर उसे आज बिना मार डाले न छोड़ूँगा।" इतना कहना था कि धर्मपरायण महाराज युधिष्ठिर को उनकी दुर्बलावस्था के कारण क्रोध ने एकदम ऐसा आन घेरा कि वे बिल्कुल आपे के बाहर हो गए और लगे अर्जुन को टेढ़ी सीधी सुनाने और उसकी निंदा करने ! इसका फल यह होता कि यदि श्रीकृष्णचंद्र बड़ी ही बुद्धिमानी से दोनों भाइयों को शांत न कर देते तो अवश्य ही दोनों के प्राण जाते ! पर यदि महाराज युधिष्ठिर ने उस समय कुछ भी बुद्धि और विचारशक्ति से काम लिया होता तो क्रोध की वहाँ पर वे जरा सी आवश्यकता न पाते। इसलिये क्रोध से काम लेना अत्यंत अयोग्य है, क्योंकि ऐसी दशा में बड़े बड़े विचारवान् लोग तक महा अनुचित काम कर बैठते हैं।

धर्मपरायण और ज्ञानी लोग तो ऐसे महानुभाव होते हैं कि वे अपने ऊपर अत्याचार करनेवालों से बदला लेने का कभी विचार ही नहीं करते, पर सर्वसाधारण लोगों में ऐसी महत्ता नहीं आ सकती। श्रीरामचंद्रजी को कैकयी ने चौदह वर्ष के लिये बनवास करा दिया पर वे उस पर कुछ भी नाराज़ न हुए और सदैव की भाँति उसे माता ही कह कर

पुकारते रहे। राजर्षि भीष्म पितामह से युधिष्ठिर ने स्वयं उन्हीं के मार डालने का उपाय पूछा, पर वे लेश मात्र भी रुष्ट न हुए। महात्मा समीक के गले में राजा परीक्षित एक मृत सर्प लपेट आए थे, जिस पर ऋषीश्वर के पुत्र शृंगी ऋषि ने राजा को शाप दे दिया पर ये महर्षि जब समाधि से जागे और इन्होंने सब कथा सुनी, तब अपने पुत्र को उसके क्रोध और लड़कपन के विरुद्ध बहुत शिक्षा दी, लेकिन परीक्षित पर कुछ भी कोप न किया, वरन् उल्टे अपने दो शिष्यों को उस राजा के पास समाचार कह देने को भेजा कि जिसमें वह सजग हो जाय। स्वयं विष्णु भगवान् के हृदय पर भृगु ने कुपित हो लात मार दी। उस समय विष्णु भगवान् सो रहे थे और उस आघात से वे जाग पड़े, पर ऐसे बड़े निष्कारण अत्याचार पर भी उन्हें ज़रा सा क्रोध न आया और वे उलटे कहने लगे कि "महाराज, मेरे इस वज्र सदृश हृदय पर लग कर आप के चरणकमलों में बड़ी चोट आ गई होगी!" हज़रत मुहम्मद एक वेर किसी अन्य धर्मावलंबी से युद्ध कर रहे थे। युद्ध में इन्होंने उसे परास्त किया और ये उसके ऊपर चढ़ बैठे, पर उसी समय उस मनुष्य ने मुहम्मद साहब के मुँह पर थूक दिया। इस पर अपने में क्रोध का आविर्भाव होते देख हज़रत ने तत्काल ही तलवार फेंक दी और उस मनुष्य को छोड़ कर ये कहने लगे कि "अब तक तो मैं अपने दुश्मन (अर्थात् उस मनुष्य) को जीते हुए था पर अब मैं ही पराजित हुआ जाता हूँ" अर्थात् अब क्रोध मुझ पर विजयी हुआ जाता है। युरोप के धर्मगुरु महात्मा ख्रीष्ट जो हमा

एशिया ही प्रदेश के थे, कह गए हैं कि "यदि तुम्हारी दाहिनी गाल पर कोई एक तमाचा मारे, तो अपनी बाँई गाल भी उसकी ओर कर दो।" चाहे कोई ऐसी शिक्षाओं को माने या नहीं, पर उनका वर्तमान होना ही बड़ी बात है। स्वयं खीष्ट सूली पर चढ़ा दिए गए पर उन्हें क्रोध न आया। निदान यहाँ तो सैंकड़ों ऐसे ऐसे उदाहरण हैं परंतु अन्य देशों में भी ऐसे मनुष्य हो गए हैं। सुकरात को विष का प्याला पीने को दिया गया, पर उसने किसी पर क्रोध न कर उसे चुपचाप पी लिया। केटो के मुँह पर एक मनुष्य तमाचा मार बैठा, पर केटो ने इस पर कुछ ध्यान ही न दिया मानो कुछ हुआ ही नहीं, जिसे देख लोग चकित हो गए। अस्तु।

परंतु सभी कोई इन सिद्धांतों के अनुयायी नहीं हो सकते हैं। सर्वसाधारण लोगों से हमारा यह कहना व्यर्थ होगा कि तुम किसी अत्याचार का भी बदला न लो। पर जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, बदला लेने के पहले ऊपर लिखे पांचों प्रश्नों पर शांति से ध्यान देने की बहुत बड़ी आवश्यकता है। क्रोध की अवस्था में उन टेढ़े प्रश्नों का हल करना असंभव है और इसी कारण ऐसी दशा में क्रोध को एक किनारे रख बुद्धि और विचारशक्ति से ही काम लेना चाहिए।

अब हम इन सब प्रश्नों पर अलग अलग विचार करेंगे और देखेंगे कि इन पर ध्यान देना आवश्यक है या नहीं।

(१) क्रोध दो अवसरों पर आता है, एक तो जब हम अन्य मनुष्यों द्वारा किसी अनुचित बात का होना सुनते हैं और दूसरे जब कोई अनुचित बात हमारे सामने होती है।

ान लीजिए कि शिवराम ने हमसे बतलाया कि रामप्रसाद हमको गालियाँ देता था। अब हम यदि ऐसा सुनते ही क्रोधांध हो रामप्रसाद को गालियाँ देने लगें अथवा उसे मारने दौड़ें या अन्य प्रकार से उससे बदला लेने को उद्यत हो जाँय, तो बड़े अनर्थ की बात है। क्या ऐसा संभव नहीं कि शिवराम रामप्रसाद से रंज रखता हो और व्यर्थ ही उसने हमको उससे लड़ा देना चाहा हो? अथवा उसने यह दिखलाने को कि वह हमारा बड़ा शुभचिंतक है ऐसी कथा रच ली हो? अथवा उस छोटी सी घटना को वह राई का पर्वत बना कर कहता हो अथवा उसको आप ही भ्रम हो गया हो? इन सब बातों के जांचने की बहुत बड़ी आवश्यकता है, नहीं तो एक निरपराध मनुष्य को अपराधी समझ कर हम स्वयम् बहुत बड़े अपराधी बन जा सकते हैं। दूसरी दशा में मान लीजिए कि रामप्रसाद ने हमारे देखते हमारे लड़के को एक तमाचा मार दिया। इस बार इसमें संदेह नहीं कि रामप्रसाद ने वह काम किया पर अगली चार बातों का विचार करना इस दशा में भी परमावश्यक है। इस पहले प्रश्न पर तभी विचार करना होता है जब हम किसी के अपराध का हाल किसी दूसरे मनुष्य द्वारा सुनें।

(२) अब इस बात के विचारने का समय आया कि जिस काम को हम अनुचित समझते हैं वह वास्तव में वैसा है या नहीं। मान लीजिए कि रामप्रसाद ने आपके लड़के को एक तमाचा मार दिया है, पर आप बिना विचारे क्यों बाल के [illegible] था यह

संभव नहीं कि उसने लड़के को बुराई करते देख भलाई के विचार से ही ऐसा किया हो ? महिलाओं को इस प्रश्न पर बहुत विचार करना चाहिए, क्योंकि अनेक बार वे अपने कुटुंबियों पर अपने बच्चों को दो एक तमाचे लगा देने के कारण बहुत नाराज हो जाया करती हैं। उन्हें बिना किसी सबल कारण के यह कदापि मान बैठना न चाहिए कि उनके जेठ, देवर अथवा सास ने द्रोह के कारण उनके लड़कों को मारा। ऐसे स्वजन लड़कों की जब कभी ताड़ना करेंगे, तो जांच करने से प्रायः सदा ही यह जाना जायगा कि उन्होंने उस लड़के के ही हित के लिये उसकी किसी शरारत पर उसे मारा है। फिर क्या यह नहीं हो सकता कि लड़के ने पहले किसी को मारा हो अथवा उसने कोई और शैतानी की हो, जिसके बदले में उसने भी लड़के को एक तमाचा लगा दिया हो ? क्या यह संभव नहीं कि किसी भूल के कारण रामप्रसाद ने लड़के को दो तमाचे मार दिए हों ? तब तो वह मार ऐसी ही हुई कि जैसे लड़का किसी दीवार से टकरा गया हो अथवा चबूतरे से गिर पड़ा हो। निदान बिना इन बातों की ध्यानपूर्वक जाँच किए हुए यदि आप रामप्रसाद से बदला लेने को प्रस्तुत हो जाँय, तो आपको लोग अवश्य ही महाक्रोधी और अविवेकी समझेंगे।

(३) यह जान लेने पर कि रामप्रसाद ने आपके लड़के को मारा और उसका यह काम अनुचित था, आपको विचारना चाहिए कि क्या हममें इतनी उदारता और महानुभावता नहीं है कि हम उसके इस अपराध को क्षमा कर दें ? तमाचा

लग जाने से कुछ लड़के के प्राण नहीं निकल गए। सैंकड़ों बार स्वयं आप ही उसे कई तमाचे लगा देते होंगे। यदि रामप्रसाद ने एक तमाचा लगा दिया तो कौन सी बुरी बात हो गई ? सब बातें विचार कर यदि आप रामप्रसाद के अपराध को क्षमा कर सकें तो आपकी बड़ाई है और रामप्रसाद अपने काम पर आप ही लज्जित होगा। यदि सब बातें शांतिपूर्वक (क्रोध की दशा में नहीं) विचारने पर आप यही निश्चय करें कि रामप्रसाद का अपराध क्षमा कर देने में आप असमर्थ हैं, तो अवश्य उचित बदला लीजिए। हम यह आशा नहीं करते कि साधारण मनुष्य श्रीरामचंद्र अथवा राजर्षि भीष्म पितामह अथवा अन्य महानुभावों के बराबर हो जाँयगे। पर यह तो विचार लीजिए कि किसी अपराध विशेष को आप कभी क्षमा कर सकते हैं या नहीं। स्मरण रखना चाहिए कि क्षमा करने अथवा बदला लेने का विचार करने का समय तभी आवेगा जब आप उपरोक्त प्रथम दो प्रश्नों पर भली भांति विचार करके यह निश्चय कर चुके हों कि जिसको आप अपराधी समझते हैं वह वास्तव में अपराधी अवश्य है।

(४) अब यह विचारने की आवश्यकता होगी कि रामप्रसाद के अपराध का किस तरह बदला लेना चाहिए ? क्या आपको उचित है कि उसे गालियां देने लगें ? ऐसी दशा में लोग आपको क्या कहेंगे ? क्या वे आपको एक असभ्य और बेहूदा आदमी न समझेंगे ? क्या भले आदमियों का काम गाली दे कर अपनी ज़बान खराब करना है ? अच्छा, तो क्या आप रामप्रसाद को मारने दौड़ेंगे ? इसका परिणाम यह

होगा कि रामप्रसाद और आपकी जूती पैज़ार होगी और लोग आपको भी हँसेंगे। यदि आप रामप्रसाद से अधिक बलवान हुए तो भी आप के चार तमाचे मारने पर वह दो एक अवश्य लगावेगा और यदि कहीं वह ज़बरदस्त हुआ, तब तो आप बेतरह पिटेंगे, इस में कोई संदेह नहीं। इस लिये ऐसे कामों में फँसना भले आदमियों का काम नहीं है। उन्हें ऐसी वाहियात बातों से दूर ही भागना चाहिए। तब क्या आप अपने किसी नौकर को भेज कर रामप्रसाद से उस से लठबाज़ी करावेंगे ? पर ऐसा करने से रामप्रसाद को यह विचार कर बड़ा ही दुःख होगा कि आपने उसे अपने नौकरों द्वारा पिटवाया और संभव है कि उस के यदि कोई नौकर न हुआ तो वह किसी बदमाश को दो एक रुपया भाड़ा दे कर आप को भी पिटवा दे। फिर यदि प्रत्येक मनुष्य इसी भांति अपना बदला हर बात में लेने लगे तो देश की शांति में कितनी बड़ी बाधा पड़ जायगी ! इसलिये उचित यह है कि सब से पहले उलहना देना चाहिए और तब धिकार करना उचित है, अर्थात् स्वयं आप रामप्रसाद को धिकारें तथा औरों से उसे धिकार दिलावें अथवा बिरादरी द्वारा दंड दिलावें, किंवा अंतिम दशा में उस पर आईन के अनुसार अभियोग चलावें और रा[illegible] उस का उचित दंड करावें। सारांश यह कि [illegible] विचार कर आप जिस रीति से चाहें [illegible] के वशीभूत हो कोई बात सहसा न कर[illegible] अपराधी को

(५) अब यह वि[illegible]

बुद्धि और विचारशक्ति को एक किनारे रख क्रोध तथा मन के ऐसे ही दूसरे भावों से काम ले, तो उसे पशु नहीं तो और क्या कहना चाहिए ? इस बात के सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं है कि क्रोध की अवस्था में बुद्धि ठिकाने नहीं रहती और विचारशक्ति का बड़ा ह्रास हो जाता है, क्योंकि यह अनुभवसिद्ध है और प्रायः प्रत्येक मनुष्य इसे निर्विवाद मानता है।

यदि कहिए कि 'वाह ! जब तक हम बैठ कर इन प्रश्नों के उत्तर देने लगें तब तक अपराधी तो न जाने कहाँ चलता बनेगा। किसी ने हमारे सर पर धड़ाका चपत लगा दी, तब क्या हम ऐसे प्रश्नों पर शांतिपूर्वक बैठ कर विचार करेंगे !' तो इसका उत्तर यह है कि एक तो ऐसी दशा कदाचित् ही उपस्थित होती हो, नहीं तो बिना आप के पहले ही से कुछ अपराध किए शायद कोई भी ऐसा पागल न होगा कि ऐसा वृथा ही तमाचा लगा दे और दूसरे यह कि यदि ऐसी असंभव बात कभी संभव भी हो जाय तो उस दशा में भी विचारशक्ति ही से काम लेना चाहिए। यदि अपराधी चला जायगा तो और भी अच्छा है। विचारानंतर आप उसे उचित रीति पर बिरादरी अथवा सरकार द्वारा दंड दिलवा सकते हैं। परंतु एक बार हम अवश्य पूछेंगे कि सच्चे चित्त से आप ही कहिए कि आपने के हज़ार दफ़ा क्रोध किया है और उनमें से कितने अवसरों पर आपके क्रोध का कारण यह हुआ कि [illegible] के कोई [illegible] ध्यान में न.

शीवों के आक्रमण बचाने में । इसलिये उसे समूल उखाड़
ालना भी ठीक नहीं है, परंतु यह बात आवश्यक है कि
से बुद्धि के अधीन रक्खा जाय। इस मत का सेनेका
गौर अन्य अनेक दार्शनिक खंडन करते हैं और वास्तव में
ह है भी महा अशुद्ध। जो काम क्रोधवश किया जायगा
सके अनुचित होने की बहुत बड़ी संभावना है। क्रोध यह
या जाने कि कोई बात कहां तक उचित और कहां तक
ानुचित है? युद्ध में ही लीजिए, जो मनुष्य वास्तव में वीर
कृति का है उसे युद्ध में क्रोध कभी आता ही नहीं। आपने
स्तकों में पढ़ा होगा कि जब एक छोटे और एक बड़े का
द्ध आन पड़ा है तब सदा छोटे ने क्रोध और बड़े ने शांत
ाव का अवलंबन किया है। यदि जापानी लोगों ने पिछले
वूरियावाले महासमर में क्रोध से काम लिया होता, तो
होंने उस रावण से प्रतिभाशाली रूस को कैसे जीता होता?
क्यों रूस वही नहीं है जो बड़े बड़े गर्वपूर्ण कटु वाक्य
पानियों के विषय में प्रयोग करता था? क्या वह जापा-
यों को युद्धारंभ में खुल्लमखुल्ला 'बंदर' इत्यादि उपाधियों से
भूषित नहीं करता था? पर जापानियों की गंभीरता को
खिए कि उन्होंने कभी अपने मुँह से कोई अपमान सूचक
द रूसियों की गालियाँ सुन कर भी नहीं निकाला और
ी क्रोध को अपने पास न फटकने दिया। उन्होंने जो बात
, बुद्धि और विचार की प्रेरणा से की और ईश्वर ने उन्हें
दिन दिखाया कि आज सारा संसार उनके यश की ध्वनि
गूँज रहा है। अहा! क्रोधरहित होकर विचार की राह

पर चढ़ने की क्या ही विशद महिमा है। भला यदि एडमिरल टोगो और मार्शल ओयामा क्रोधांध हो जाया करते, तो क्या आज दिन जापान का सर्वनाश न हो गया होता ? पर नहीं। जनरल नोगी को अपने दोनों प्रियतम पुत्रों के युद्ध में मारे जाने पर भी क्रोध न आया और वह सदा ही की भांति गंभीर भाव से विचार विचार कर कार्य्य करता गया, जिससे पोर्ट आर्थर के जगत प्रख्यात कोट को, जिसे रूसियों ने एकदम अटूट मान रक्खा था, उस दुर्धर्ष वीर शिरोमणि ने तोड़ ही तो दिया ! अस्तु, तात्पर्य्य यह कि युद्ध में भी क्रोध से काम लेने की किंचित् मात्र भी आवश्यकता नहीं और बुद्धि तथा विचारशक्ति को क्रोध से कुछ भी सहायता नहीं मिल सकती, वरन् उसके कारण वहां भी हानि ही हाथ लगती है।

भयानक जीवों के आक्रमण से बचने के लिये भी क्रोध की आवश्यकता नहीं है, वरन् संभव है कि उल्टे क्रोध की अवस्था में आप कदाचित आत्मरक्षण में बिल्कुल असमर्थ हो जांय। इसलिये क्रोध किसी दशा में भी अच्छा नहीं और उसे समूल नाश कर देना ही उचित है। यदि कोई मनुष्य किसी के पिता अथवा पुत्र या भाई तक का वध कर डाले, तो अवश्य ही उस व्यक्ति को अपराधी से बदला लेना चाहिए, पर ऐसी विकट दशाओं में भी क्रोध के वशीभूत होने की कोई आवश्यकता नहीं। यहाँ पर भी बुद्धि और विचारशक्ति ही के व्यवसाय पर निर्भर रहना सर्वथा उचित है। ऐसा न करने से संभव है कि आप ऐसा चूकें कि अपराधी दंड से एकदम बच जाय।

प्राय: देखा गया है कि क्रोध के वश हो कर लोग जिनसे नाराज होते हैं, उनके नौकरों को हानि पहुँचा देते हैं, जैसे " धोबी से न जीत गदहे के कान उखाड़ना "। यह बड़ी ही कायरता की बात है।

यदि यह कहिए कि सत्पुरुषों को जैसे उत्तम बातों पर आनंद आता है, वैसे ही बुरे कामों पर उन्हें क्रोध भी आना चाहिए, तो मानो आप ऐसा चाहेंगे कि महात्माओं में महानुभावता और नीचता दोनों ही रहनी चाहिएँ। चाहे आपके संबंध में कोई अनुचित बात हो, चाहे दूसरे के विषय में, पर आप को दोनों ही अवस्थाओं में क्रोध से दूर भागना चाहिए। प्राय: देखा गया है कि लोग क्रोध के वेग में अनुचित काम कर डालते हैं पर पीछे विचारने पर वे पछताते हैं, परंतु यदि कोई मनुष्य भली भाँति सोच विचार कर कोई काम करेगा, तो पीछे पछताने का उसे कभी अवसर प्राप्त न होगा।

जो काम क्रोध में किया जाता है उसका कुछ भी ठिकाना नहीं। वह तो मानो उसके कर्ता ने आँधी के बवंडर में पड़ कर विवस उड़ते हुए किया। प्राय: लोगों का ऐसा विचार है कि जो लोग बड़े ही सच्चे दिल के होते हैं उन्हें क्रोध शीघ्र आ जाता है, यद्यपि यह भी कही जाता है कि उसी भांति ऐसे लोगों की क्रोधशांति भी शीघ्र ही हो जाती है। जो हो, पर यदि ऐसा है तो उनकी अच्छाई में यह बहुत बड़ा बट्टा है। यह सभी जानते हैं कि क्रोधी लोग कभी सुखी

होना अच्छा समझते हैं। एक क्रोध ऐसा है कि वह इधर आया और उधर गया, पर दूसरे प्रकार का क्रोध चिरस्थायी होता है। दूसरे प्रकार के क्रोध को तो एक प्रकार की व्याधि समझना चाहिए, जो दुर्बल चित्तवाले मनुष्यों को सताती है, मानो प्रकृति उसके द्वारा उन मनुष्यों से बदला लेती है, जो अपने चित्त को दृढ़ और सिद्धांतप्रिय नहीं बनाते।

कुछ लोग ऐसे होते हैं जो छोटी छोटी भूलों पर अथवा अकारण ही अपने नौकरों या लड़कों पर नाराज़ हो जाते हैं, यहां तक कि उन्हें व्यर्थ ही उन बेचारों को ताड़ना करने में भी संकोच नहीं होता। यह बड़ी ही लज्जा की बात है। जो मनुष्य अपने वश में है उस पर यों अत्याचार करना क्रूरता, कायरता, और दुष्टता की पराकाष्ठा है। ऐसे ही लोगों के लड़के दुःख सहन करते करते अंत में उन्हें उत्तर देने लगते और उनसे बराबर लड़ने तक को प्रस्तुत हो जाते हैं। जहाँ आप देखिए कि पिता पुत्र में बिगाड़ है, वहां जाँच से ज्ञात हो जायगा कि प्रति सैकड़े ९९ उदाहरणों में पिता ही का यदि संपूर्ण नहीं तो अधिक दोष अवश्य है। जैसे कोहरे में सभी पदार्थ बड़े देख पड़ते हैं, उसी प्रकार क्रोधावस्था में छोटे छोटे दोष पहाड़ के समान ज्ञात होते हैं। इसलिये क्रोध में बालकों को झिड़कने अथवा मार बैठने से लाभ के स्थान पर हानि ही होती है। बालक बालिकाओं को यदि उनके अपराध करने पर डांटा न जाय, अथवा उचित अवसरों पर यदि उनकी ताड़ना न की जाय, तो उनके बिगड़ जाने में संदेह नहीं। इससे उन्हें बुरे कामों पर अवश्य यथोचित दंड

देना चाहिए, परंतु क्रोधावस्था में कदापि नहीं। क्रोध उतर जाने पर उनके अपराध के अनुसार उन्हें दंड देना चाहिए। बहुत लोग ऐसे अदद और ओछे मन के होते हैं कि या तो वे क्रोध की दशा में लड़कों के हाथ पैर ही तोड़ देंगे, नहीं तो क्रोध उतर जाने पर उनसे लेश मात्र भी ताड़ना करते न बनेगी। ऐसा न करने से वे लोग प्रत्यक्ष सिद्ध करते कि वे किसी स्थिर सिद्धांत पर न चल क्षणभंगुर मनोवृत्तियों के ही वेग में पड़ कर कोई काम कर सकते हैं। भला ऐसे मनुष्य लड़कों को कब सुधार सकेंगे! इस पर उन्हें स्वयं ही विचार करना चाहिए।

अब रही सेवकों की बात, सो उन्हें ताड़ना करने का कभी ध्यान ही न करना चाहिए। यदि आप उन से बिल्कुल ही असंतुष्ट हों, तो उन्हें अलग कर देना उचित है। छोटे छोटे अपराधों पर उन्हें कभी कभी डांटने की भी आवश्यकता पड़ती ही है। ऐसी दशा में क्रोध दूर हो जाने के पश्चात् उन्हें झिड़कना चाहिए परंतु बात बात में डांटते रहने से कोई भी लाभ नहीं, वरन् इससे उल्टे यह प्रगट होगा कि आप एक अदद और छिछोरे मनुष्य हैं और सेवक बेहया हो कर आपको और भी कष्ट देने लगेंगे। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक सुकरात को एक बार एक गुलाम पर बड़ा क्रोध आया, पर उसने न उसे डॉटा और न मारा, केवल यही कह कर अपनी मनस्तुष्टि कर ली कि "यदि मुझे क्रोध न आ गया होता तो मैं तुझे अवश्य ठोंकता।" अन्य लोग जिस क्रोध के कारण औरों को मार बैठते हैं उसी के हेतु सुकरात ने गुलाम को

मारने की कौन कहे उसे डाँटना तक उचित न समझा! महानुभावता यही है।

अंत को आप पूछेंगे कि अच्छा मान लिया कि क्रोध को एक किनारे रख सभी दशाओं में बुद्धि और विचारशक्ति से ही काम लेना चाहिए, पर यह तो कहिए कि क्रोध का वेग कैसे रोका जाय! क्या उसे कोई बुलाने थोड़े ही जाता है? वह तो आपहीं आप उभड़ पड़ता है। इसके उत्तर में हम कहेंगे कि उच्चतम श्रेणी के विज्ञानी और सिद्धांती मनुष्यों को यह विचार कर क्रोध न करना चाहिए कि वह एक ऐसी महा निषिद्ध और उन्मादरूपी मनोवृत्ति है कि जिस से हानियां अनेक होतीं और हो सकती हैं पर लाभ एक भी नहीं। परंतु सर्वसाधारण मनुष्यों के लिये क्रोध को रोकनेवाले निम्नलिखित उपाय और विचार ध्यान देने तथा मनन करने योग्य हैं—

(१) प्रारंभ से ही खुशामदी लोगों से दूर रहना चाहिए और अपने चित्त को दुर्बल और स्वेच्छाचारी न बनाना उचित है। ऐसा करने से यदि कुछ भी बात चित्त के प्रतिकूल हुई कि क्रोध का अविर्भाव हो जाता है, यहां तक देखा गया है कि कुछ लोग अपने सेवकों पर इतनी सी बात पर क्रोधांध हो जाते हैं कि पानी में बरफ़ ठीक न पड़ी, चद्दर बिछाने में दो एक सिकुड़न रह गई, उसने खड़ाऊं बिल्कुल सीधी न रख कुछ टेढ़ी रख दी, अथवा वह बाज़ार से मलाई की बरफ न ला सका, यद्यपि चाहे उस दिन ऐसी बरफ़ हाट में आई ही न हो! हम यह नहीं कहते कि लापरवाही से

काम करने के लिये नौकर को कभी न डाँटा जाय, पर
से प्रज्वलित हो जाने की इस में क्या आवश्यकता है ?
ही यदि कोई मित्र सच्चे चित्त से आपकी कोई त्रुटि आप
उचित रीति से प्रकाशित करे तो आपको उसे धन्यवाद
चाहिए और उसकी समालोचना पर कदापि रुष्ट न ह
चाहिए। क्रोधजनक दशाओं में शांतचित्त रहने का अभ्
बढ़ाते बढ़ाते ऐसा समय आ जायगा कि आपको जल्दी
आवेहीगा नहीं।

(२) यदि क्रोध आने लगे तो उसको प्रारंभ ही
दबाने का उद्योग करना उचित है, क्योंकि बढ़ जाने पर
उसके स्वामी नहीं रह जाते वरन् वह उल्टा आप पर अ
कारी बन बैठता है। सुकरात को जब क्रोध आता तब
अपनी वाणी को बंद कर देता, मंद मंद मुसकराने लग
और आंख को चढ़ने न देता। इस भांति उसका क्रोध क
किसी पर प्रगट ही न हुआ।

(३) यदि औरों को क्रोधावस्था में दांत पीसते, अश्
शब्द मुँह से निकालते, व्यर्थ शपथें खाते एवं अन्य अनेक
व्यापार करते देखिए, तो आप को सोचना चाहिए कि
की दशा में आपकी भी वही नीच गति होती होगी !
कैसी घृणित बात है !!. लोग इसे किस दृष्टि से देख
हैं !!! ऐसे ऐसे विचार समय समय पर करने से आ
अपने को क्रोध में फँसने से रोक सकेंगे।

(४) ठंडे पानी से मुँह धो डालने से क्रोध शांत हो
है। इसलिये जब कभी आप को क्रोध आने लगे, वहीं

रोकने के अन्य उपायों को करने के अतिरिक्त ठंडे पानी से मुंह धो डालिए।

(५) शीशे में भी मुंह देखने से लोगों का क्रोध जाता रहता है, क्योंकि उन्हें अपना ही बिगड़ा हुआ मुंह देखने से लज्जा प्राप्त होती है।

(६) क्रोध की सब से बड़ी औषधि विलंब है। यदि आप क्रोध की अवस्था में कोई पत्र लिखिए, तो उसे जितनी देर तक हो सके अपनेही पास रख छोड़िए। दो एक दिन पीछे उसे पढ़ कर आप स्वयं ही लज्जित हूजिएगा कि यह क्या उट पटांग हमने लिख डाला था? किसी पर क्रोध आवे तो उसी समय उस से बदला लेने और उसे दंडित करने का विचार तक न कीजिए। यह कार्य्य उस समय तक के लिये उठा राखिए जब तक क्रोध दूर न हो जाय। तब आप को थोड़ा विचार करने से ज्ञात हो जायगा कि उचित बात क्या है।

(७) चुगली खानेवालों को कभी मुंह न लगाइए। यदि कोई मनुष्य आप से कहे कि रामप्रसाद कहता था कि आप बड़े दुष्ट प्रकृति के और लोभी हैं, तो इसका सब से अच्छा उत्तर यह होगा—"तो रामप्रसाद ने इस में बेजां क्या कहा? अवश्य ही उन्होंने हमें पूरे तौर पर जान लिया है, क्योंकि हम वास्तव में दुष्ट प्रकृति के और लोभी हैं।" यदि वह मनुष्य कहने लगे कि "आप ऐसा क्या कहते हैं! आप तो एक बड़े ही साधु प्रकृति के और निर्लोभी पुरुष हैं", तो उत्तर में नम्रतापूर्वक कह दीजिए कि 'आप हमारे शुभचिंतक

हैं, इसी से आप हमें ऐसा समझते हैं, पर वास्तव मे
रामप्रसाद ने कहा वह बहुत ही ठीक है।" बस, इतना
लेने पर कदाचित् वह मनुष्य दूसरी बार आपसे किसी
निंदा न करेगा और रही अपनी बात, सो न आप अपने
मियां मिठ्ठू बनने से कुछ लाभ प्राप्त कर सकते हैं औ
अपने को छोटा और सदोष कहने से आपकी कुछ हानि
संभव है; उल्टे लोग आपकी प्रशंसा ही करेंगे। चुगली ख
वाले लोगों की बातों पर ध्यान देने से आपका कोई भी
नहीं हो सकता। उनकी बातें सैंकड़े में ९९ तो प्रायः मि
ही हुआ करती हैं और जो बात सत्य भी हो तो उसे
कर और उससे क्रोधांध होने से कुछ मिल न जायगा। बु
मान लोग आपकी पीठ पीछे निंदा सुन कर आपको
कभी न मान बैठेंगे और मूर्खों की ओर ध्यान देना ही
है। आपके वास्तविक कर्म जैसे होंगे, वैसे ही आप र
रुपों द्वारा भले या बुरे आदमी माने जायँगे। अतः अ
कामों की ओर ध्यान दीजिए और दूसरों के कहने की
परवाह न कीजिए।

(८) किसी मनुष्य ने आपकी निंदा की, ऐसा सुन
आपको विचारना चाहिए कि क्या कभी आपने भी उस
अथवा किसी अन्य पुरुष की उसी भांति निंदा की है
नहीं? क्या उस मनुष्य ने आपकी जिन बातों की निंदा
है वे त्रुटियां वास्तव में आप में हैं तो नहीं? यदि क
कि वे ही अथवा उससे बढ़ कर दोष और लोगों में भी
हैं तब आप ही की क्यों निंदा हो, तो इसका उत्तर हम

गे कि एक तो यदि सौ नकटों को देख कर आप अपनी भी नाक काट डालें तो क्या आपकी लोग निंदा न करेंगे, और दूसरे यह कि आप कैसे कह सकते हैं कि अन्य दूषित मनुष्यों की निंदा होती ही नहीं ? कदाचित् उनकी आप से भी अधिक निंदा होती होगी । परंतु यदि आपने कभी किसी की उसी प्रकार निंदा न की है और न आप में वे दोष ही वर्तमान हैं, जो आप के निंदक ने आप में ठहराए हैं, तो आपको उस अप्रतिष्ठित निंदक की बात को उपेक्षा की दृष्टि से देखना चाहिए । उस पर ध्यान देना ही व्यर्थ है ।

अपनी निंदा सुन कर आप को यह भी ध्यान करना चाहिए कि क्या आपके निंदक ने किसी वास्तविक भ्रम में पड़ कर तो आप में वे ऐब नहीं समझ लिए, जिन को उसने आप पर आरोपित किया है ?

(९) हमको चाहिए कि समय समय पर अपने दुर्गुणों पर विचार करें और इस बात को भली भांति समझ लें कि हम में कौन कौन दूषण हैं । इसमें संदेह नहीं कि यह एक कठिन काम है, पर—

"अतिशय रगड़ करे जो कोई ।
अनल प्रगट चंदन ते होई ॥"

इस सच्चे सिद्धांत के अनुसार यदि आप बार बार अपनी त्रुटियों पर शुद्ध हृदय से ध्यान देंगे, तो धीरे धीरे आप अपने सभी अवगुण जान लेंगे । इस से दो बहुत बड़े लाभ होंगे । एक तो आप के दोष धीरे धीरे कम होते जाएंगे और दूसरे

यदि कोई आप की उन दोषों के लिये, जो आप में उपा
हैं, निंदा करे तो आप को कदाचित् उस पर क्रोध आवे
नहीं, अथवा बहुत कम आवेगा।

(१०) इसी भांति हमको समय समय पर क्रोध के दु
पर भली भांति विचार करना चाहिए और इस प्रकार
पर हार्दिक घृणा उत्पन्न करनी चाहिए। उस में जो जो
पाए जाते हैं उनकी उचित गवेषणा कर हमें सो
चाहिए कि वे कैसे उत्पन्न होते हैं; उन्हें लोग कैसे घृ
समझते हैं, और उन्हें अवश्य दबाना चाहिए। क्रो
दुर्गुण भली भांति जानने के लिये उसका अन्य दूषणों के
मिलान करने से ज्ञात होगा कि प्रायः इतनी महा-निंद
घृणित बातें और किसी प्रकार की बुराई में नहीं हैं।
विचारों से धीरे धीरे आपको क्रोध से बड़ी ही घृणा उ
हो जायगी।

(११) "यदि छूरी खरबूजे पर गिरे तो खरबूजा
और यदि खरबूजा छूरी पर गिरे तो भी वही कटे" यह
साधारण किंवदंती है। वास्तव में दोनों ही अवस्थ
में हानि उसी को पहुँचती है जो क्षीण है। यह सभी
जानता है कि बुराई की अपेक्षा भलाई बहुत पुष्ट होती
इससे दूसरी को पहली से किसी प्रकार की वास्तविक ह
नहीं पहुँच सकती। यदि कोई दुष्ट मनुष्य आपसे अस
व्यवहार करे, तो उल्टे उसकी हानि होगी और आप य
भले हैं तो सारा संसार उस पर ही थूकेगा।

(१२) बुद्धिमान और भले मनुष्य ही सिद्धांतों पर च

। छिछोरे लोग केवल मनोवृत्तियों के इशारे पर पशुओं की
भांति जो कुछ जी में आ गया कर बैठते हैं। इसलिये जो
कुछ हानि आपको दुष्टप्रकृति के मनुष्य द्वारा पहुँच जाय, उसे
ऐसा ही समझिए कि मानो अचानक किसी बंदर ने काट
लिया, अथवा किसी बैल ने सींग मार दी अथवा आप
फिसल कर गिर पड़े हों।

(१३) प्रायः बेसमझी से ही अपमानों की उत्पत्ति होती
है। बुद्धिमान लोग सर्वसाधारण को उसी दृष्टि से देखते
हैं जैसे वैद्य अपने रोगियों को। इसलिये वे उनके बकने पर
कुछ ध्यान नहीं देते।

(१४) अपराधी की सभी बातों पर भली भांति विचार
करने से कदाचित् आपको ज्ञात हो जायगा कि उस पर क्रोध
करना उचित नहीं। कदाचित् वह एक अनजान लड़का है,
तब तो उसे क्षमा ही कर देना चाहिए। यदि हमारे पित
अथवा किसी अन्य बड़े ने कुछ अपराध किया है तो कहन
ही क्या है! उसने हमारे लिये अनेक कष्ट सहे होंगे औ
वह हमारा सदा हित ही साधन करता रहा होगा, तब कर
हम उसके ... हीं कर सकते? कदाचि
... अबला ही ठहरी, उस
... हमसे बहुत न्यून है, तब
... ता। ... ावरवालों
... को चा
... ह काम वि
से ... आप बात

लाठी पर क्रोध करेंगे ? कदाचित् आपने अपराधी को
पहले दुःख पहुँचाया है तब बदले में यदि उसने भी अ
कष्ट दिया तो इसमें कहना ही क्या है ? कदाचित् वह भ
बड़ा है और आप ही के लिये उसने वह काम किया है
आप भ्रमवश अपराध समझ रहे हैं ऐसी दशा में अ
उसका उपकार मानना चाहिए। क्रोध का इसमें जि
क्या है ? कदाचित अपराधी कोई जड़ जीव अथवा बि
बेसमझ मनुष्य है तब उसपर क्रोध कर क्या आप भी
को उसी की कक्षा में सम्मिलित कर देंगे ! क्या किसी
रुप ने आप को हानि पहुँचाई है ? ऐसा कभी जल्दी
मानिए। अवश्य ही उस बात में कुछ झूठ अथवा भूल है
क्या किसी बुरे मनुष्य ने वैसा किया है ? तो इसमें अ
ही क्या है ? पर क्या किसी बुरे आदमी के कारण आप
वैसे ही बन जाना पसंद करेंगे ? कदाचित् नहीं। ऐसे
उपायों और विचारों द्वारा, जिनपर हम लोगों को सदा ध
देना चाहिए, क्रोध की मात्रा बहुत कुछ घटाई जा स
है। जिसमें जितना कम क्रोध है उसमें उतना ही अधिक
ईश्वर का माना गया है। इससे यदि आपको चित्त
शांति पाने और संसार में सत्पुरुषों द्वारा प्रशंसित होने
कुछ भी इच्छा हो, तो क्रोध से यथाशक्ति सदा दूर ही भागि
ऐसा सोचना व्यर्थ है कि "चाहे जो कुछ कहा या सो
जाय, पर वास्तव में क्रोध का सम्हालना असंभव है।"
मानते हैं कि साधारण मनुष्य सभी ठौर क्रोध नहीं र
सकते, पर विचारवान को ऊपर लिखे और अन्य ऐसे

ायों और विचारों द्वारा शुद्धचित्त से यथाशक्ति क्रोध
ने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करते करते ईश्वर
कृपा से उसमें महानुभावता बढ़ती जायगी और कुछ दिनों
वह इस व्याधि के परे हो सकता है। ईश्वर उसी की
ायता करेगा जो स्वयं अपनी सहायता करता है। इस-
ये आपको क्रोध रोकने का पूरा प्रयत्न अवश्य करना चाहिए।

—

चौदहवाँ अध्याय।

सत्यता।

"सत्यान्नास्ति परोधर्मः" की कहावत हमारे यहां बहुत काल से प्रचलित है। अब हम यही पुण्यपूर्ण विषय उठाते हैं, जो हमारे आत्मशिक्षण ग्रंथ के सभी विषयों का मुकुट-मणि है। यह अच्छी से अच्छी शिक्षा प्रायः अंत के लिये इस कारण रख छोड़ी गई कि जिस में विदा होते समय की

ार कर के जाना है कि द्रव्य एक अज्ञेय पदार्थ है।*हम केवल गुणों से जानते हैं। गुणों के ज्ञान से इतर द्रव्य वास्तविक रूप अथवा उसकी असलियत हमें पूर्णतया ाव है।

हमारे ज्ञान के साधन पंचेंद्रिय हैं। जो सांसारिक थवा अन्य विषय संबंधी ज्ञान हमें प्राप्त हुआ है वह ेंद्रिय ने ही प्रदान किया है। यह ज्ञान समय समय पर दला करता है। जिसकी आंखों में कांवरी रोग है उसे व कुछ पीला देख पड़ता है। न जाने वस्तुओं का वास्त-क रंग पीला है या जैसा उसे नीरोग लोग देखते हैं। फिर सी वस्तु का रंग रात को एक प्रकार का देख पड़ता है, ोपहर को दूसरी ही भांति का और ज्योति की कमी अथवा ाधिक्य के अनुसार अन्य समयों में किसी और ही भांति का। जब हमारी ही आँखों की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में वस्तुएँ इतने रंग बदलती हैं तब चींटी, हाथी, बैल, छिपकिली पक्षी, मछली, सिंह, सांप आदि की आंखों में उनका रंग रूप कैसा जँचता होगा, यह जानने के लिये हमारे पास को साधन नहीं है। तब उसका वास्तविक रंग क्या है, इस प्रश्न का उत्तर भी कोई नहीं दे सकता। हम केवल इतन जानते हैं कि पंचेंद्रियमुक्त नीरोग मनुष्यों के नेत्रों को य एक विशिष्ट प्रकार की ज्योति सहायतार्थ मिले तो अमु पदार्थ का ऐसा रंग देख पड़ेगा। यह रंग उसके वास्तवि रंग से क्या समानता रखता है, सो हम नहीं जान सकते इसी भांति स्वाद का हाल है। दूसरा हमें अ...

चौदहवाँ अध्याय।

सत्यता।

"सत्यान्नास्ति परोधर्मः" की कहावत हमारे यहां बहुत
ाल से प्रचलित है। अब हम यही पुण्यपूर्ण विषय उठाते
, जो हमारे आत्मशिक्षण ग्रंथ के सभी विषयों का मुकुट-
ाणि है। यह अच्छी से अच्छी शिक्षा प्रायः अंत के लिये इस
ारण रख छोड़ी गई कि जिस में विदा होते समय की
सम्मति तो प्रिय पाठक स्मरण ही रक्खें।

सत्यता सभी शिक्षाओं, धर्मों, आचरणों, वर्णनों आदि
से सिरे है। जो मनुष्य इस का पूर्ण आदर करेगा वह प्रायः
कभी कोई अनुचित कर्म नहीं कर सकेगा। यह विषय देखने
में अत्यंत सरल है किंतु दार्शनिक सिद्धांतों से विचार करने
पर ऐसो ज्ञात होता है कि वास्तविक सत्य का ज्ञान हम-
लोगों को हो ही नहीं सकता। यह ज्ञान केवल ईश्वर को है।
जो पदार्थ जैसा है उसके वैसे ही कथन को सत्य कथन कहते
हैं। संसार प्रकृति से उत्पन्न है। यह दो प्रकार की है अर्थात्
जड़ और चेतन। जितने पदार्थ हम देखते हैं वे सब या तो
जड़ हैं या चैतन्य। यदि प्रत्येक वस्तु के विभाग किए जॉय
तो उस का अंत जड़ अथवा चैतन्य परमाणुओं में मिलता
है, अर्थात् परमाणु का विभाग नहीं हो सकता। इसी को
द्रव्य (Matter) का अंतिम रूप कहते हैं। पंडितों ने

ार कर के जाना है कि द्रव्य एक अज्ञेय पदार्थ है।*हम
केवल गुणों से जानते हैं। गुणों के ज्ञान से इतर द्रव्य
वास्तविक रूप अथवा उसकी असलियत हमें पूर्णतया
ात है।

हमारे ज्ञान के साधन पंचेंद्रिय हैं। जो सांसारिक
ावा अन्य विषय संबंधी ज्ञान हमें प्राप्त हुआ है वह
ांद्रिय ने ही प्रदान किया है। यह ज्ञान समय समय पर
ला करता है। जिसकी आंखों में कांवरी रोग है उसे
र कुछ पीला देख पड़ता है। न जाने वस्तुओं का वास्त-
क रंग पीला है या जैसा उसे नीरोग लोग देखते हैं। फिर
सी वस्तु का रंग रात को एक प्रकार का देख पड़ता है,
ापहर को दूसरी ही भांति का और ज्योति की कमी अथवा
ाधिक्य के अनुसार अन्य समयों में किसी और ही भांति
ा। जब हमारी ही आँखों की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में
स्तुएँ इतने रंग बदलती हैं तब चींटी, हाथी, बैल, छिपकिली
क्षी, मछली, सिंह, सांप आदि की आंखों में उनका रंग रूप
कैसा जँचता होगा, यह जानने के लिये हमारे पास को
साधन नहीं है। तब उसका वास्तविक रंग क्या है, इस
प्रश्न का उत्तर भी [illegible] । हम केवल इतन
[illegible] क नेत्रों को या
[illegible] मिले तो अनु
[illegible]

चौदहवाँ अध्याय।

सत्यता।

"सत्यान्नास्ति परोधर्मः" की कहावत हमारे यहां बहुत काल से प्रचलित है। अब हम यही पुण्यपूर्ण विषय उठाते हैं, जो हमारे आत्मशिक्षण ग्रंथ के सभी विषयों का मुकुट-मणि है। यह अच्छी से अच्छी शिक्षा प्रायः अंत के लिये इस कारण रख छोड़ी गई कि जिस में बिदा होते समय की सम्मति तो प्रिय पाठक स्मरण ही रक्खें।

सत्यता सभी शिक्षाओं, धर्मों, आचरणों, वर्णनों आदि से सिरे है। जो मनुष्य इस का पूर्ण आदर करेगा वह प्रायः कभी कोई अनुचित कर्म नहीं कर सकेगा। यह विषय देखने में अत्यंत सरल है किंतु दार्शनिक सिद्धांतों से विचार करने पर ऐसा ज्ञात होता है कि वास्तविक सत्य का ज्ञान हम लोगों को हो ही नहीं सकता। यह ज्ञान केवल ईश्वर को है जो पदार्थ जैसा है उसके वैसे ही कथन को सत्य कथन कह‍ हैं। संसार प्रकृति से उत्पन्न है। यह दो प्रकार की है अर्था जड़ और चेतन। जितने पदार्थ हम देखते हैं वे सब या तं जड़ हैं या चैतन्य। यदि प्रत्येक वस्तु के विभाग किए जाँ तो उस का अंत जड़ अथवा चैतन्य परमाणुओं में मिलता है, अर्थात् परमाणु का विभाग नहीं हो सकता। इसी को द्रव्य (Matter) का अंतिम रूप कहते हैं। पंडितों ने

विचार कर के जाना है कि द्रव्य एक अज्ञेय पदार्थ है। हम उसे केवल गुणों से जानते हैं। गुणों के ज्ञान से इतर द्रव्य का वास्तविक रूप अथवा उसकी असलियत हमें पूर्णतया अज्ञात है।

हमारे ज्ञान के साधन पंचेंद्रिय हैं। जो सांसारिक अथवा अन्य विषय संबंधी ज्ञान हमें प्राप्त हुआ है वह पंचेंद्रिय ने ही प्रदान किया है। यह ज्ञान समय समय पर बदला करता है। जिसकी आंखों में कांवरी रोग है उसे सब कुछ पीला देख पड़ता है। न जाने वस्तुओं का वास्तविक रंग पीला है या जैसा उसे नीरोग लोग देखते हैं। फिर उसी वस्तु का रंग रात को एक प्रकार का देख पड़ता है, दोपहर को दूसरी ही भांति का और ज्योति की कमी अथवा आधिक्य के अनुसार अन्य समयों में किसी और ही भांति का। जब हमारी ही आँखों की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में वस्तुएँ इतने रंग बदलती हैं तब चींटी, हाथी, बैल, छिपकिली, पक्षी, मछली, सिंह, सांप आदि की आंखों में उनका रंग रूप कैसा जँचता होगा, यह जानने के लिये हमारे पास कोई साधन नहीं है। तब उसका वास्तविक रंग क्या है, इस प्रश्न का उत्तर भी कोई नहीं दे सकता। हम केवल इतना जानते हैं कि पंचेंद्रिययुक्त नीरोग मनुष्यों के नेत्रों को यदि एक विशिष्ट प्रकार की ज्योति सहायतार्थ मिले तो अमुक पदार्थ का ऐसा रंग देख पड़ेगा। यह रंग उसके वास्तविक रंग से क्या समानता रखता है, सो हम नहीं जान सकते। इसी भाँति स्वाद का हाल है। शर्करा हमें नीरोगावस्था में

ठी लगती है किंतु विशिष्ट रोगों की दशा में कड़ुई । तब
हीं जान पड़ता कि सब जीवों की विविध दशाओं पर पूर्वा-
पार विचार करने से उसमें वस्तुतः क्या स्वाद है ? अतः
तुओं का वास्तविक रूप एवं रस हमें अज्ञात है । यही दशा
द, स्पर्श और गंध की है । फिर अपनी पंचेंद्रिय से संसार
प्रकृति को हम एक प्रकार का जानते हैं, किंतु नहीं कह
ते कि यदि कोई शरीरी षष्ठेंद्रिय अथवा सप्तेंद्रिययुक्त होता
वह इन्हीं सांसारिक पदार्थों को कैसा जानता और हम से
प्रकार के शरीरी आज कैसा जानते हैं ? अतः अवश्य
तार्किक निष्कर्ष निकलता है कि संसार अथवा उसकी
भी वस्तु हमारे लिये पूर्णतया अज्ञेय है । ऐसी दशा में
वास्तविक सत्य बोलने का दावा किसी प्रकार नहीं कर
। सत्य-कथन, सत्य-ज्ञान पर निर्भर है और जब
ा ज्ञान ही अनिश्चित है, तब सत्य भाषण कहाँ संभव है ?
यहाँ तक तो सत्य की दार्शनिक विवेचना हुई । अब यह
उठता है कि साधारण सत्य भाषण की शक्ति हमें कैसे
हो सकती है ? मोटे प्रकार से सत्य-कथन के लिये इच्छा,
र्य और श्रम-शीलता की आवश्यकता है । साधारण
सत्य के लिये केवल इच्छा की आवश्यकता समझते हैं,
बिना सामर्थ्य और श्रम के मनुष्य न चाहते हुए भी
ल जायगा । यदि किसी को ऐसा रोग है जो साधारण
जाना नहीं जा सकता, तो उसके परखने में अप्रवीण
रारी भूल कर बैठेगा और ऐसी दशा में उसके कथन
अशुद्ध होंगे । स्वयम् हमने एक मरणप्राय रोगी को

ही समझा था कि वह थोड़ा सा बीमार है और लोगों से
सा ही कथन भी किया, किंतु जब दो दिन के पीछे उसका
रीर ही छूट गया, तब लोगों ने हमसे कहा—"वाह साहब!
आप भी खूब पेपर की उड़ाते हैं।" किसी स्थान पर कितने
मनुष्य इकट्ठे हैं, इस महा सरल विषय का भी जानना कठिन
है और जिसको ऐसा अनुमान करने का अभ्यास नहीं है वह
भारी भूल कर जायगा। एक बार एक न्यायालय में हमारा
हलफ से बयान हो रहा था। एक वकील के अमुक स्थान में
कितने मनुष्य होने का प्रश्न सुन कर हमने यही कहा कि मैं
नहीं कह सकता। उन्हों ने कहा "अटकल से कहिए जनाब!"
मैंने उत्तर दिया "तीन से से पांच सै तक हो सकते हैं।" मेरे
पीछे जब एक ऐसे भद्र पुरुष का बयान हुआ कि जिसने वहाँ
के लोग गिने थे, तो ज्ञात हुआ कि उस काल वहाँ केवल १६५
मनुष्य थे। बिना श्रम के भी मनुष्य वस्तुओं का सचा ज्ञान
नहीं प्राप्त कर सकता। रस्सी का साँप, एवं विटप का भूत
इसी कारण से बनता है। अतः श्रम एवं सामर्थ्य के अभाव में
सत्य बोलने की इच्छा रहते हुए भी मनुष्य प्रायः असत्य
भाषण कर

हो सकता। सत्य ही कर्तव्य-परायणता का मूल और कादरता का शत्रु है। यदि साधारण लोग अपने हृदय पर हाथ रख कर अपनी सच्ची समालोचना करें, तो अपने में उन्हें इतने दोष देख पड़ेंगे कि धैर्य्य लुप्त हो जायगा। इसीसे कहा गया है कि यदि लोगों के दोष उनके मस्तक पर लिखे होते तो संसार में भौंहों तक टोपी पहनने की रीति प्रचलित होती।

असत्य के अनेकानेक प्रच्छन्न और प्रकाश रूप होते हैं, अर्थात् अत्युक्ति, छद्म, परिवर्तन, झूठा वाद, (प्रच्छन्न तथा प्रकाश) मौन इत्यादि। जब आपके न बोलने से कोई ऐसी बात समझे जो असत्य है, तब मौनावलंबन भी असत्य कथन के समान हो जायगा। इसको प्रच्छन्न असत्य भाषण कहेंगे। जान बूझ कर ऐसा वचन देना जिसका पालन नहीं हो सकता, पूरा असत्य है। वादा, कथन और व्यवहार दोनों प्रकार से हो सकता है। किसी बात का ऐसा परिवर्त्तन कर के वर्णन करना कि जिससे उसका असली रूप गुप्त रहे, एक प्रकार से असत्य भाषण है। छद्म-कथन का भी यही हाल है। अत्युक्ति एक अलंकार होने पर भी दार्शनिक सिद्धांतों से पूरा असत्य कथन है।

कुछ लोग सोचते हैं कि व्यापार चलाने में असत्य बोलना ही पड़ता है। यह बात किसी भी अंश में यथार्थ नहीं है। जो लोग अच्छा सौदा बेचते और खरे दाम लेते हैं, लोग थोड़े ही दिनों में उनके सौदे की उत्तमता समझ कर औरों की अपेक्षा उन्हीं की वस्तुएँ मोल लेना श्रेष्ठतर समझने लगे हैं। इसीलिये अंगरेज़ी दूकानों का सौदा प्रायः

च्छे दामों पर बिकता है और देशी दूकानदारों की मूर्खता के कारण उनकी वैसी साख बाजार में नहीं होती। देशी लोगों में प्रायः यह रुचि देखी जाती है कि जहाँ तक हो सके सस्ते दामों की वस्तुएँ तैयार हों। उसकी उत्तमता पर वे तात्विक विचार कभी नहीं करते और जिह्वा से सदैव उसके गुणगान में अत्युक्ति की भी टाँग तोड़ देते हैं। फल यह होता है कि इनके अच्छे माल के विषय में भी गाँहक को संदेह लगा ही रहता है, सो अंगरेजी माल के बराबर अच्छा माल बना लेने पर भी इनको उतना मूल्य नहीं मिलता। यह अधिकतर कार्यकर्त्ताओं की बेईमानी का फल थोड़े से बेचारे ईमानदार उत्पादकों तक को भोगना पड़ता है। इसीलिये ऊपर कहा गया है कि सत्यता ही असली बुद्धिमत्ता है। जिस काल भारत में देशी शक्कर की मांग हुई, तब अदूरदर्शी हलवाइयों ने विलायती चीनी में गुड़ और मैल मिला कर देशी खाँड़ बनाया, जिससे थोड़े ही दिनों में गाँहकों का उत्साह ठंढा पड़ गया और विदेशी शक्करा की मांग जैसी की तैसी बनी रही। इन सब बातों पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि व्यापार में भी सत्यता ही लाभदायिनी होती है।

सत्यता की शिक्षा मनुष्य को बाल्य वय से ही मिलनी

सकती हैं। इसी प्रकार उनको रोने से डराने के लिये भूत, गोगो, कनकटा आदि का भय दिखाते हैं, जिससे उनके कोमल हृदयों पर इन निस्सार पदार्थों के अस्तित्व का ज्ञान जम जाता है। ऐसी बातों से उन बालकों के जीवन में कितनी हानि होती है वह वर्णनातीत है। अल्प वय के सीखे हुए मिथ्या विश्वास जीवन पर्य्यंत लोगों को कठिनता से छोड़ते हैं। इसलिये उचित है कि विनोद इत्यादि अथवा किसी भी अन्य दशा में बालकों से कोई मिथ्या बात न कही जाय। बालक स्वभावतः बहुत ही अनुकरणशील होता है। इसलिये अपने प्रत्येक आचरण से उसे उच्च शिक्षा देनी उचित है। आचरणों का प्रभाव बालक पर बहुत ही अधिक पड़ता है, सो इस पर सदैव पूरा ध्यान रखना चाहिए। बहुधा देखा गया है कि बालक जब साथ चलने को रोने लगते हैं तब उनके पिता, ज्येष्ठ भ्राता आदि कह देते हैं कि घर जा कर कपड़े पहन आओ। जब तक वे कपड़े पहन कर बाहर आवें, तब तक स्वयं पालक महाशय वहाँ से खिसक देते हैं। इस प्रकार पालक के असत्याचरण से बालक असत्य का बहुत बड़ा पाठ सीखता है। अतः कथन और आचरण दोनों प्रकार से उसे उच्च शिक्षा देनी चाहिए। उनको किसी प्रकार यह भाव ही न हो कि झूठ भी बोला जाता है। बालकों में सत्यप्रियता उत्पन्न करने के कुछ उपाय हम नीचे लिखते हैं।

(१) [illegible] भी विषय पर कदापि कोई बात झूठ [illegible] न उन्हें अपने आचरणों द्वारा झूठ [illegible] में अनुकरण-शक्ति बड़ी प्रबल एवं

नैसर्गिक होती है और उसीके द्वारा वे सब कुछ सीखते हैं। यदि उनसे कभी झूठ न बोला जाय तो वे इस अवगुण के उड़दादा को कभी जाने भी नहीं।

(२) उनकी बात पर विश्वास किया जाय जब तक कि यह ज्ञात न हो जाय कि वे जान बूझ कर झूठ बोल रहे हैं। किसी की बात पर विश्वास न करने से उसे मिथ्या भाषण की उत्तेजना होती है।

(३) सत्य बोलने की ओर प्रसंशा द्वारा उनकी रुचि बढ़ाई जाय और झूठ बोलने की निंदा कर उस पर घृणा उत्पन्न कराई जाय।

(४) यदि लड़का कोई बात झूठ बोले तो उसे तत्काल ही रोका जाय परंतु ऐसे कह कर नहीं कि "झूठा है! भाग झूठा कहीं का !! अरे वाह रे झूठे !!! ऐसा कहना तो मानो उसे झूठ बोलने पर शाबाशी देना है। उससे यों कहना चाहिए कि "अरे! कोई झूठ बोलता है !! यह बड़ी खराब बात है। बदमाश और लुच्चे झूठ बोला करते हैं पर भला आदमी कहीं ऐसा करता है !!! राम राम! ऐसा अब कभी मत करना" इत्यादि।

(५) यदि ऐसा करने पर भी लड़का झूठ न छोड़े तो उसे कड़ा दंड देना चाहिए। धीरे से एक चपत लगा देने की अपेक्षा न मारना अच्छा है। जब लड़कों को मारे तब अच्छी तरह ताड़ना करे, जिससे बार बार इसकी आवश्यकता न रहे और लड़के को मार खाने की लज्जा एवं उसका भय न छूट जाय। ऐसे उपायों से लड़कों को सच्चा बनाया जा सकता

है और वे ही लड़के बड़े हो कर सत्यवादी और ईमानद मनुष्य हो सकते हैं। माताओं को इस ओर विशेष ध्या देना चाहिए। बूढ़े तोते राम राम नहीं करते। जिसकी न नस में लड़कपन से ही झूठ बोलना भरा है, जो उमर भ नेधड़क मिथ्या भाषण करता रहा है, जो "मौका महल' वेचार कर बात करता है; अर्थात् सभी बातों में पहले यह वेचारता है कि ऐसे अवसर पर सच बोलने से मतलब नि लेगा या झूठ बोलने से, जिसे झूठ का ध्यान आते ही चित्त घृणा उत्पन्न नहीं होती, वह बेचारा क्या सत्यवाद करेगा, योंकि अभ्यास ही स्वभाव का पिता है। अतः बालकों को रंभ से ही सत्यवादी और सत्यताप्रेमी बनाने की पूर्ण चेष्टा र लोगों को करनी चाहिए।

महात्मा तुलसीदास जी ने क्या ही ठीक कहा है—

"नहिं असत्य सम पातकपुंजा।
गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा?"

इस छंद के आशय पर बहुत लोग ध्यान नहीं देते। सीदास जी के मत से जहाँ एक असत्य मात्र पहाड़ के *बर पातक है वहाँ अन्य करोड़ों प्रकार के पाप केवल एक* गुंज, अर्थात् घुँघुची या रत्ती के बराबर हैं। एक विधर्मी त्मा ने कहा है कि जो कुछ हमारे भीतर जाता है, उससे *प्राय: उतने अपवित्र नहीं होते, जितना कि जो कुछ* र से बाहर आता है उससे होते हैं। "जो कुछ भीतर है" से तात्पर्य है खाद्य पदार्थों का और "जो कुछ भी- से बाहर आता है" इससे अभिप्राय है झूठ बोलना,

दगाबाजी और अन्य घृणित कर्म करने के विचार। क्योंकि प्रथमतः मनुष्य के चित्त ही में ऐसे कर्म करने के विचार उठते हैं और बाहर आते हैं। अहा! कैसा उत्तम वाक्य है! सुनते हैं कि जहाँ ऊपरी आडंबर बहुत बढ़ जाते हैं वहाँ वास्तविक धर्म की बातें प्रायः लुप्त सी हो जाती हैं। हम लोगों के यहाँ ऐसा ही हुआ—खान पान, छुवा छूत, ऊँच नीच इत्यादि के स्वार्थियों ने इतने ढकोसले बढ़ा दिए कि धर्म के मुख्य अंग—सत्यता, निस्स्वार्थता, दया, शूरता, दान, स्वदेशानुरागादि लुप्तप्राय हो गए! हमारे देश के दुर्भाग्य का सब से बड़ा कारण यही है।

विलायत में एक गोष्ठी के लोग होते हैं जो क्वेकर्स (Quakers) कहलाते हैं। वे लोग तो सत्यता की प्रायः अंतिम सीमा तक पहुंच गए हैं। उनकी कुछ बातें पाठकों के विनोदार्थ लिखते हैं—

(१) वे साहित्य को एकदम नापसंद करते हैं, क्योंकि उसमें झूठ बहुत होता है। कवियों का सभी घटनाएँ वर्णन करने में भी वे नमक मिर्च के काम प्रायः नहीं चलता, पर क्वेकर लोग जहां एक अक्षर भी झूठ का आ गया कि झट उसको छोड़ भागते हैं। अतः वे लोग बहुत कर के काव्य-ग्रंथ कभी देखते ही नहीं।

(२) [illegible] हमारे यहाँ लोगों को प्रायः "महाराज" कह [illegible] जाता है, वैसे अंगरेज़ों में सर (Sir) [illegible] एक पृजिर तो 'सर' कहावे के वे [illegible] (Knight) हो। अतः क्वेकर

लोग सर्वसाधारण को कभी "सर" कह के नहीं संबोधन करते। यदि आप उन्हें "सर" कहें या लिख दें, तो वे आपको तत्काल ही स्मरण दिला देंगे कि वे नाइट (Knight) नहीं हैं और आप उनसे "सर" कहने में झूठ बोले।

(३) वे लोग जब कोई सौदा मुलुक लेने बाजार जाते हैं, तो दूकानदार से केवल एक बार पूछ लेते हैं कि किसी वस्तु विशेष का जो उन्हें क्रय करनी है क्या मूल्य है? यदि सौदागर का बतलाया मूल्य उन्हें ठीक जँचा तो वे उतना दाम दे कर सौदा ले लेते अन्यथा "मुझको मूल्य अधिक जान पड़ता है" यही कह कर चल देते हैं; मोल तोल कभी भूल कर भी नहीं करते। यदि दूकानदार उन्हें फिर बुला कर उसी पदार्थ का दाम कुछ घट कर बतावे तो वे उसकी बात को भी न सुनेंगे, यही कह देंगे कि "तू मुझसे झूठ क्यों बोला"? और फिर यथासाध्य उसकी दूकान पर सौदा लेने कभी न जांयगे। यह जान कर दूकानदार भी उनसे कभी किसी वस्तु का दाम एक पैसा भी बढ़ा कर नहीं कहते।

(४) यदि आप उनसे पूछें कि कोई स्थान विशेष कितनी दूर है और यदि वहाँ के रास्ते पर मील के पत्थर न लगे हों अथवा उन्हें उन महाशय ने गिन न लिया हो तो वे यही उत्तर देंगे कि "मैं नहीं कह सकता।" अटकल की बात वे लोग कभी कहते ही नहीं, क्योंकि वह "झूठ" हो सकती है! ऐसे ही यदि आप उनसे समय पूछें और उनके पास घड़ी न हो अथवा वह बिलकुल ठीक न हो तो उत्तर वही होगा जो लिखा है। इसी प्रकार यदि कोई तीसरा आदमी आप

े समय पूछे और आप अपनी घड़ी में १० बजने में १
मिनट बाकी देख कर कह बैठें कि दस बजे हैं, तो यदि वहाँ
ोई क्वेकर बैठा हो और उसकी घड़ी ठीक हो तो वह उसे
ख कर कहेगा कि "नहीं ! दस बज गए कहना झूठ था,
स समय दस बजने में २ मिनट ३७ सेकंड बाकी थे"।

(५) अंगरेजी में यू (You अर्थात् आप) कह कर
ंबोधन करने की चाल है, पर यह शब्द बहुवचन होने
े एक मनुष्य के विषय में प्रयुक्त न होना चाहिए, वरन्
सका एकवचन दाऊ (Thou) अर्थात् "तू" कहना
ाहिए। क्वेकर लोग भला कोई अशुद्ध (अर्थात् उनके मता-
ुसार झूठ) शब्द काहे को बोलने लगे ? अतः वे सब को
'तू" (Thou) कह कर संबोधन करते हैं और भूल कर
ी "आप" (You) नहीं कहते, क्योंकि एक मनुष्य के
वेषय में ऐसा कहना "झूठ बोलना" है। वे लोग सभ्यता
ो भी सत्यता के सामने तुच्छ मानते हैं।

यदि सच पूछिए तो सत्यता इसीका नाम है। जब
क्वेकर लोग सत्यता का ऐसी ऐसी छोटी बातों में इतना विचार
खते हैं, तो आप समझ सकते हैं कि दगाबाज़ी के लिये
भला वे कभी झूठ बोल सकते हैं ! कदापि नहीं !! प्राण जाने
र भी नहीं !!! ऐसे लोग धार्मिक हैं। ऐसे लोग महात्मा हैं
ा कि दंभी, मिथ्यावादी, दगाबाज़।

क्वेकरों के उपरोक्त वर्णन करने का हमारा यह अभि-
राय नहीं है कि सब लोगों को इन्हीं के समान समाज में
कथन करना और आचरण रखना चाहिए। प्रयोजन केवल

इतना है कि सत्य की खोज में लोग यहाँ तक गए हैं। वास्तव में यदि सत्य की इच्छा रखनेवाले किसी पुरुष के मुख से भ्रमाभाव आदि से कोई असत्य बात भी निकल जाय तो वह मिथ्याभाषी नहीं कहा जा सकता। शास्त्रों में यहाँ तक कहा गया है कि—

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
सत्यं च नानृतं ब्रूयादेषधर्मः सनातनः ॥"

अर्थात् प्रत्येक सुधी पुरुष को सत्य कथन करना चाहिए और उसीके साथ प्रियवादी भी होना उचित है। जहाँ तक कोई विशेष आवश्यकता न पड़े, अप्रिय सत्य कथन से बचा रहे। इसीके साथ ऐसा भाषण भी न किया जाय जो साथ ही साथ सत्य और झूठ हो, अर्थात् अर्द्ध सत्य कथन न किया जाय। अर्द्ध सत्य का एक उदाहरण यही है कि जब यह प्रश्न हुआ कि क्या आपने अपने पिता का भारी निरादर किया है, तब अपने मन में निरादर को हलका समझ कर उत्तर केवल यही दिया जाय कि यह बात बिलकुल झूठ है। अतः शास्त्रकारों ने अनावश्यक अप्रिय सत्य एवं अर्द्ध सत्य को सनातन धर्म के विरुद्ध कह कर पापकारी माना है।

बहुत लोग कहते हैं कि सत्य कहने से साथ नहीं रहता और इसके उदाहरणों में उस दुष्ट पुत्र का वाक्य उद्धृत करते हैं जिसने अपनी विधवा माता के थोड़े से शृंगार पर उसके आचरण पर संदेह प्रकट करनेवाला कथन किया था। ऐसे कथन को सुन कर माता के स्वभावतः रुष्ट होने से वे लोग अ[illegible] विचार की पुष्टि मानते हैं। यहाँ उसी

अनावश्यक अप्रिय सत्य का मामला सिद्ध होता है न कि वल से साथ न रहने का। प्रत्येक सत्यवादी का यह कर्तव्य नहीं है कि वह सब का मानभंग करता फिरे। किसीके अयोग्य प्रश्न करने पर भी आप झूठ न बोल कर कह सकते हैं कि मैं ऐसे अनावश्यक प्रश्नों का उत्तर देना नहीं चाहता, अथवा युक्तिपूर्वक उसको बचा सकते हैं। अंग्रेजों से जब किसीसे लड़ाई हो पड़ती है और वह उनका नाम अभियोग चलाने को पूछता है, तब प्रायः देखा गया है कि झूठ नाम बतला कर पिंड छोड़ाने के स्थान पर वे नाम ही नहीं बतलाते, किंतु देर तक बहस कर के जब नाम बतलाते हैं, तब वह सच्चा ही नाम होता है। ऊपर दिखाया जा चुका है कि असत्य में कितने दुर्गुण भरे हैं। यदि एक स्वच्छ उत्तर से इतने दोष बच सकते हैं तो उनके अंगीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है। लोग औरों की दृष्टि में सज्जन अथवा उदारचेता बनने के इतने उत्सुक रहते हैं कि स्वयं अपनी साक्षी को बिलकुल ही भूल जाते हैं। जब तक कोई उचित समालोचक अपनी ही दृष्टि में सज्जन अथवा उदारचेता नहीं है तब तक दूसरों की दृष्टि में ऐसा बनने के लिये यत्नवान् होना उसका कैसा घृणित कर्म है सो स्पष्ट प्रगट है। फिर भी लोग स्वयं अपनी अपेक्षा औरों पर सज्जनता प्रकट करने के परमोत्सुक देखे गए हैं। यही घृणित लालसा असत्य को जननी और संसार के आधे से अधिक पातकों की उत्पन्न करनेवाली है। प्रत्येक चतुर पुरुष जब स्वयम् अपने को अपने आचरणों से संतुष्ट कर सकेगा, तब वह देखेगा कि संसार

अंधा नहीं है और इस दशा के पहले ही से उसे पूज्य मानने लग चुका है। जहाँ कहीं सत्य बोलने से कोई भारी पातक पड़ता हो, वहाँ किसी प्रकार से अपने धर्म को बचा लेना ही ठीक है। जैसे यदि डाकू लोग किसी के गुप्त धन का भेद अपने से पूछते हों, तो वश होने पर मिथ्या भाषण द्वारा भी अपना पिंड छुड़ाना पातक नहीं है, यद्यपि पूर्ण पुण्य यही कहा जायगा कि ऐसी दशा में भी मनुष्य प्राण तक न्योछावर कर के सत्य व्रत का पालन करे। परिहास में किसी साधारण असत्य कथन को शास्त्रों ने पातक नहीं माना है, और वास्तव में ऐसा माना भी नहीं जाता है, किंतु पूरे सत्यव्रती को असत्य भाषणवाले परिहासों में संलग्न ही न होना चाहिए। जिन कथनों का अभिप्राय असत्य हो और केवल ध्वनि-व्यंग्यों द्वारा ही सत्यार्थ निकले, वे असत्य नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उनका वास्तविक अर्थ असत्ययुक्त नहीं है।

सभी स्थानों पर सत्य व्रत का पालन बड़ा कठिन धर्म है, पर वस्तुतः महानुभाव पुरुष वही माना जायगा, जो ऐसे स्थलों में भी "अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो" द्वारा अपने नैतिक स्वभाव को झूठा बोध न होने देवे। महात्मा सत्यकाम जाबाल ने जिस काल अपने गुरु से अपना जारज होना तक स्वीकार कर लिया किंतु पिता का झूठा नाम बतला कर सत्य व्रत को नहीं भंग किया, उसी समय से उसकी महत्ता कम होने के स्थान पर संसार में और भी जम गई। महात्मा गुरु गोविंद सिंह के सुपुत्रद्वय दिखलाने भर को कलमा पढ़

कर वही गुलामता से अपने प्राण बचा सकते थे, किंतु पूर्ण सत्य का आदर करके वे सहर्ष स्वर्ग-लोक को पयान कर गए, यद्यपि जीते जी बल से मत परिवर्तन करानेवालों के काले मुखों पर थूकते ही रहे। ऐसे ही ऐसे महत्वपूर्ण उदाहरणों से देश का मुख उज्ज्वल होता है। हजारों मनुष्य प्लेग से क्या नित्य प्रति गीदड़ों की भाँति नहीं प्राण त्यागते ? फिर इन्हीं दो पुरुषरत्नों के मरने से क्या देश उजाड़ हो गया ? उन्होंने मर कर भी दिखला दिया कि पुरुष किसे कहते हैं। यों तो सारी दुनिया के जिह्वा, कान और मस्तिष्क होते हैं किंतु—

"कहिबो सुनिबो सोचिबो वीरन को कछु और।"

पंद्रहवाँ अध्याय।

संसार की सारता।

हमारे यहाँ प्रायः सभी बातों में इस "असार संसार" का कथन आगे चलता है। बात बात में संसार को तुच्छ, मिथ्या, झूठा, मायामय, धोखे की टट्टी, असार, स्वप्नवत, मृगतृष्णा, पंछी रैन बसेरा, पानी का बुलबुला, बालू की भित्ति, इत्यादि विशेषणों से विभूषित अथवा कलुषित करने की ऐसी कुछ रीति सी पड़ गई है कि कभी कभी बिना विचारे भी लोग इस भाँति के कथन कर बैठते हैं। यह एक प्रकार से धार्मिक विषय है और आचार-शास्त्र के ग्रंथ में इसका स्थान पाना ही साधारणतया अनुचित है, किंतु भारतवर्षीय आचार पर इसका प्रभाव इतना पड़ा है कि इसे यहाँ से अलग रखना अनुचित समझ पड़ता है।

सांसारिक असारता के विचारों की उत्पत्ति विशेषतया शंकर स्वामी के अद्वैतवाद से समझी जाती है। अद्वैतवाद का कथन है कि संसार मायामय मात्र है, जो माया ईश्वर के लिये झूठी है किंतु हमारे लिये सची। महात्मा शंकराचार्य ने "तत्त्वमसि" का अर्थ कर के ईश्वर और जीव को एक ही माना है और इनमें केवल अविद्या का अंतर बतलाया है। ईश्वर पूर्ण ज्ञानी होने से इस मायामय संसार के वास्तविक मिथ्यात्व एवं अनस्तित्व को जानता है, परंतु जीव अहंकारी एवं

अज्ञानी होने से इस माया को वास्तविक पदार्थ समझता है। अतः प्रगट है कि जीव के लिये यह संसार सच्चा है, क्योंकि जब तक उसे पूर्ण ज्ञान नहीं होता, तभी तक वह संसार में रहता है और माया को सच्चा मानता है। जब वह पूर्ण ज्ञानी हो जाता है तब अपने स्थूल, सूक्ष्म और बुद्धि शरीरों का हनन कर के अपने वास्तविक अस्तित्व अथवा अनस्तित्व को प्राप्त हो जाता है और संसार में नहीं रहता। अतः शांकर सिद्धांत के अनुसार भी प्रकट है कि संसार यहाँ के निवासियों के लिये पूर्णतया सच्चा है। जिसको इसे झूठा जानने की पात्रता हो जाती है उसके रहने योग्य संसार नहीं रहता अथवा यों कहें कि वह संसार में रहने योग्य नहीं रह जाता। अतः शंकर स्वामी के अनुसार भी यह संसार सभी जीवधारियों के लिये पूर्णतया सच्चा है। संसार के इतर प्रदेशों के अज्ञात निवासी इसे कैसा समझते हैं सो जानने की हमें कोई आवश्यकता नहीं है। उधर विशिष्टाद्वैतवादियों ने प्रकट रूप से संसार को सत् माना है।

अतः हमारे शास्त्रों में जो इस जगत् को बहुधा सारहीन माना गया है उसका प्रयोजन यह है कि हम लोगों को उसमें नितांत लिप्त हो जाना उचित नहीं और यह समझ कर कि इस दुनिया में हमें सदा नहीं रहना है, बुरे कर्मों से डरना तथा अच्छी बातों में दत्तचित्त होना चाहिए। शास्त्रकारों का यह प्रयोजन कदापि न था कि हमें पृथ्वी पर अपने कर्तव्य से ही पराङ्मुख हो "दुनिया दुरंगी मकारा सराय" कह कर हाथ पैर समेट कर चुपचाप बैठ रहना ठीक है। यदि

ऐसा न होता तो भगवान श्रीकृष्ण गीता में अर्जुन को कर्म-योग का सिद्धांत क्यों समझाते और इस बात पर क्यों इतना जोर दिया जाता कि प्रत्येक मनुष्य को अपना कर्त्तव्य अवश्य पालन करना चाहिए ? मनुष्य में स्वार्थ की मात्रा प्रायः बहुत विशेष हुआ करती है, जिसके वश वह उचितानुचित बातों और कामों पर कभी कभी विचार न कर के अपना मतलब बनाने में इतना अंधा हो जाता है कि बड़े बड़े घृणित और गर्हित कुकर्म तक कर डालने में उसे आगा पीछा नहीं होता। इस भयंकर कुदशा से बचाने के लिये हमारे विज्ञ शास्त्रकारों ने हमें ठौर ठौर पर संसार की असारता दिखलाई है, न कि इसलिये कि पृथ्वी पर लोग कर्त्तव्य-पालन ही न करें।

जब तक हमारे प्रिय भारतवर्ष की दशा अच्छी रही, तब तक इस सिद्धांत का प्रयोग केवल समुचित रीति पर ही किया गया, पर जब दुर्भाग्यवश हम लोगों का अधःपतन प्रारंभ हुआ, तभी कुछ काल के लिये शास्त्रों की इस उत्तम शिक्षा का भी मतलब हम लोग यह समझने लगे कि दुनिया में कुछ है ही नहीं, सो पुरुषार्थ करना व्यर्थ है। इन्हीं विचारों के बढ़ने पर पेट "पापी" कहलाने लगा, यद्यपि वास्तव में कर्मण्यता का यही मूल कारण है, क्योंकि कुछ न कुछ कर के इस "पापी पेट" को नित्य "चाडांल की झोली" के समान भरना ही पड़ता है। यदि पेटदेव न होते तो "संसार की असारता" के ढकोसले पर कुछ लोग कदाचित् अकर्मण्यता की पराकाष्ठा तक पहुँच जाते। अकर्मण्यता से संतोष की

ऐसी अनुचित वृद्धि हुई कि कुछ लोगों को "चना चबैनी गंग जल" मात्र की आवश्यकता रह गई। उधर पाश्चात्य देशों में काम करने का महत्व ऐसा बढ़ा कि उसे कभी कभी जप तप तक की उपाधि मिल गई। कार्लाइल ने यहाँ तक स्पष्ट रूप से लिख दिया कि परिश्रम ही पूजन है। हम लोगों अकर्मण्यता तथा पाश्चात्य जातियों की कार्य्यदक्षता के परिणाम हुए हैं वे किसी भी आँखवाले से छिपे नहीं हैं, जो लोग आँखें रखते हुए भी देखना नहीं चाहते, उन्हें ौन दिखला सकता है? जब हम सभों को अथवा हममें अधिकांश लोगों की आँखें खुल जाँयगी, उसी दिन भारतवर्ष से "कलि काल" दूर हो जायगा। संसार की असारतावाले विचारों के अनुचित अर्थ से भारत में अकर्मण्यता और संतोष की परम हानिकारिणी वृद्धि हुई, जिससे धीरे धीरे इसका पूर्ण अधःपतन हो गया। गोस्वामी तुलसी दास से ईश्वर के अटल भक्त तक ने कहा है कि—

"कादर मन कर एक अधारा।
देव देव आलसी पुकारा॥"

इस लिये संसार की असारतावाले भेद-विचार बिल्कुल पोच समझने चाहिएँ।

यह संसार कदापि असार या झूठा नहीं है, वरन बिल्कुल सच्चा एवं सारगर्भित है। यह ईश्वर की चमत्कारिणी रचना है और इसे झूठा या मिथ्या कहना एक प्रकार से ईश्वर पर कलंक लगाना है। यदि वह सच्चा है तो उसकी रचना झूठी कैसे हो सकती है! क्या झूठे ही सच्चे

र और सुमेरु मंदर उसके अस्थि हैं, सर्पगण उसके नख
, पवन उसके तन छिद्र हैं, सूर्य चंद्र ही उसके नेत्र हैं;
आदि, इत्यादि। अतः स्पष्ट है कि यदि ये सब पदार्थ असार
और मिथ्या हैं तो स्वयं भगवान का विराट रूप ही मिथ्या
होगा। हम सभी लोगों के लिये यह प्रमाण देना उचित
अथवा आवश्यक नहीं समझते पर इतना विशेष कहेंगे कि
हिंदू सनातनधर्मावलंबी महाशयों को संसार को असार
कह कर स्वयं भगवान के विराट रूप को मिथ्या बनाना
कदापि उचित नहीं।

इसमें संदेह नहीं कि संसार की सभी वस्तुएँ नाशमान
हैं, किंतु फिर भी पूर्ण विनाश किसी वस्तु का नहीं हो सकता
और द्रव्य एवम् शक्ति, रूप भले ही बदला करे, किंतु उसका
नाश असंभव है। रूप के विषय में भी देखिए कि अब
श्रीरामचंद्र नहीं हैं, श्रीकृष्ण भगवान नहीं हैं, वेदव्यास नहीं
हैं, गौतमबुद्ध नहीं हैं, शंकर स्वामी नहीं हैं, विश्वामित्र,
पाणिनि और पतंजलि नहीं हैं, किंतु फिर भी जब तक इनके
यशोरूपी शरीर संसार में शेष हैं, तब तक ये बिना शरीर के
भी जीवित हैं। अतः यदि हम भी पुरुषार्थ दिखला कर
अपनी जाति और अपने देश का हित करके संसार में अपना
नाम अमर कर सकें, तो अमरत्व के पद को पा सकते हैं।

बहुतों का विचार है कि एक एक प्राणी के लिये संसार
को एक प्रकार से तो असार कह सकते हैं कि उसके मे
मर जाने के पीछे उसके हिसाब कुछ नहीं रहा, सारे स
नाश हो गया। यह बात बिल्कुल ठीक नहीं है। इसके

यह बड़ी स्वार्थपरता की बात है कि हम न रहे तो संसार ही न रहा। एक साधारण व्यक्ति है ही क्या वस्तु ? संसार के आगे वह एक नितांत तुच्छ जीव है, मानो अणुमात्र भी नहीं है। उसके रहने या न रहने से संसार पर क्या प्रभाव पड़ सकता है ? उसके ऐसे एवम् उससे बढ़ कर असंख्य जीव एक इसी पृथ्वी पर वर्त्तमान हैं। फिर यह पृथ्वी एक ही ब्रह्मांड का एक बहुत ही छोटा अंश है। ऐसे और इससे बड़े करोड़ों ब्रह्मांड ईश्वर ने रच रक्खे हैं कि जिन्हें सोचने तक से मनुष्य की छोटी बुद्धि चक्कर खाने लगती है। ईश्वर की सृष्टि में हमारा कितना छोटा पद है, इसे विचारना तक बहुत कठिन है। तब कोई विज्ञ पुरुष ये सब बातें जान कर संसार के आगे आत्मगौरव संबंधी विषयों पर जिह्वा हिलाने तक की हिम्मत कैसे कर सकता है ? यदि हम न भी रहे, पर अपने ठौर लड़के वाले छोड़ गए, तब हमारे हिसाब भी संसार कभी मिथ्या नहीं कहा जा सकता। एक एक प्राणी के लिये चाहे संसार स्थिर न भी देख पड़े, पर जाति के लिये, राष्ट्र के लिये, देश के लिये वह स्थिर ही देख पड़ेगा। यदि रामचंद्र अब नहीं हैं, तो भी उनके वंशज महाराणा उदयपुर तथा लाखों अन्य मनुष्य वर्त्तमान हैं। यदि गौतम बुद्ध का स्थूल शरीर यहाँ अब देखने में नहीं आता, तो भी उनका मत-माननेवाले करोड़ों मनुष्य चीन, जापान, ब्रह्मा, आसाम [illegible] पड़े हैं। यदि विश्वामित्र अब इस लोक में नहीं [illegible] लाखों वंशधर भारतवर्ष ही में प्रस्तुत [illegible] वेद के तृतीय मंडल के पाठ करने-

पीछे उनकी कीर्ति को गा रहे हैं। अतः किसी जाति एवं महानुभाव के लिये संसार को झूठा अथवा असार कहना मोटे प्रकार से भी नितांत अनुचित और अशुद्ध समझ पड़ेगा। हम जो पुरुषार्थ करेंगे, उसका फल हमें, हमारी संतति एवम् देशवालों को मिलेगा। गौतम बुद्ध ने जो सिद्धांत और महत्व भारत को प्रदान किए हैं, उनका मीठा फल हम आज भोगते हैं। शंकराचार्य ने जो अद्वितीय उपकार कर के भारत में मत संशोधन किया है, उसके सिद्धांत आज भी हमें ऊँचा बना रहे हैं। व्यास भगवान ने हमारे लिये जो कर्तव्य शास्त्र स्थिर कर दिया था, उसे हम आज भी अपना जीवन-लक्ष्य समझते हैं। पृथ्वीराज ने कगर के युद्ध में जो मूर्खता दिखलाई थी, उसका फल हम आज भी भुगत रहे हैं। शिवाजी, रणजीत सिंह, प्रताप सिंह आदि वीरों के शरीर बहुत वर्ष हुए पंचत्व को प्राप्त हो गए, किंतु उनके परिश्रमों के फल बड़ौदा, ग्वालियर, राजपुताना, कश्मीर आदि की रियासतें आज भी हमारे सम्मुख उपस्थित हैं। महारानी विक्टोरिया ने जो दया दिखलाई थी, उसके बल पर हम आज भी अपने को सभ्य संसार में ऊँचा मानते हैं और हमारे संतान बदौलत संसार में परमोच्च पद पाकर समय पर सत्य युग सुख भोगेंगे। इन सारे कर्मसमुदाय को क्या कोई ... सारहीन अथवा क्षणस्थायी कह सकता है? क्या इनके विविध फल भारत में किसी न किसी रूप में अपना प्रभाव सदैव नहीं डाला करेंगे? संसार में व्यक्ति का विनाश हो जाता है, किंतु उसके कर्मों का विनाश कभी नहीं होता। कर्म जैसे

सुख और मिथ्या समझने के ऐसे ही भयंकर परिणाम होने सर्वथा स्वाभाविक हैं। प्रत्येक मनीषी पुरुष को सदैव ध्यान रखना चाहिए कि—

नहीं कुछ स्वप्नवत् बातों से है काम।
यहीं पुरुषार्थ दिखलावें करें नाम॥

मनोरंजन पुस्तकमाला।

अब तक निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं—

(१) आदर्श-जीवन—लेखक रामचंद्र शुक्ल।
(२) आत्मोद्धार—लेखक रामचंद्र वर्म्मा।
(३) गुरु गोविंदसिंह—लेखक वेणीप्रसाद।
(४) आदर्श हिंदू १ भाग—लेखक मेहता लज्जाराम शर्म्मा।
(५) " २ " "
(६) " ३ " "
(७) राणा जंगबहादुर—लेखक जगन्मोहन वर्म्मा।
(८) भीष्म पितामह—लेखक चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्म्मा।
(९) जीवन के आनंद—लेखक गणपत जानकीराम दूबे बी. ए.
(१०) भौतिक-विज्ञान—लेखक संपूर्णानंद बी. एस-सी., एल.टी.।
(११) लालचीन—लेखक ब्रजनंदन सहाय।
(१२) कबीरवचनावली—संग्रहकर्त्ता अयोध्यासिंह उपाध्याय।
(१३) महादेव गोविंद रानडे—लेखक रामनारायण मिश्र बी.ए.।
(१४) बुद्धदेव—लेखक जगन्मोहन वर्म्मा।
(१५) मितव्यय—लेखक रामचंद्र वर्म्मा।
(१६) सिक्खों का उत्थान और पतन—लेखक नंदकुमार देव शर्म्मा।
(१७) वीरमणि—लेखक श्यामबिहारी मिश्र एम. ए. और शुकदेवबिहारी मिश्र बी. ए.।
(१८) नेपोलियन बोनापार्ट—लेखक राधामोहन गोकुलजी।
(१९) शासनपद्धति—लेखक प्राणनाथ विद्यालंकार।

0) हिंदुस्तान, पहला खंड—लेखक दयाचंद्र गोयलीय बी.
) ,, ,, दूसरा खंड— ,, ,,
महर्षि सुकरात—लेखक वेणीप्रसाद ।
ज्योतिर्विनोद—लेखक संपूर्णानंद बी. एस-सी., एल. टी.
आत्मशिक्षण—लेखक श्यामविहारी मिश्र एम० ए० और
शुकदेव बिहारी मिश्र बी० ए० ।

बुद्धि और विचारशक्ति को एक किनारे रख क्रोध तथा मन के ऐसे ही दूसरे भावों से काम ले, तो उसे पशु नहीं तो और क्या कहना चाहिए ? इस बात के सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं है कि क्रोध की अवस्था में बुद्धि ठिकाने नहीं रहती और विचारशक्ति का बड़ा ह्रास हो जाता है, क्योंकि यह अनुभवसिद्ध है और प्रायः प्रत्येक मनुष्य इसे निर्विवाद मानता है ।

यदि कहिए कि 'वाह ! जब तक हम बैठ कर इन प्रश्नों के उत्तर देने लगें तब तक अपराधी तो न जाने कहाँ चलता बनेगा। किसी ने हमारे सर पर धड़ाका चपत लगा दी, तब क्या हम ऐसे प्रश्नों पर शांतिपूर्वक बैठ कर विचार करेंगे !" तो इसका उत्तर यह है कि एक तो ऐसी दशा कदाचित् ही उपस्थित होती हो, नहीं तो बिना आप के पहले ही से कुछ अपराध किए शायद कोई भी ऐसा पागल न होगा कि ऐसा वृथा ही तमाचा लगा दे और दूसरे यह 'कि यदि ऐसी असंभव बात कभी संभव भी हो जाय तो उस दशा में भी

जीवों के आक्रमण बचाने में । इसलिये उसे समूल नष्ट
डालना भी ठीक नहीं है, परंतु यह बात आवश्यक है
उसे बुद्धि के अधीन रक्खा जाय। इस मत का सेने
और अन्य अनेक दार्शनिक खंडन करते हैं और वास्तव
यह है भी महा अशुद्ध। जो काम क्रोधवश किया जाय
उसके अनुचित होने की बहुत बड़ी संभावना है। क्रोध य
क्या जाने कि कोई बात कहां तक उचित और कहां त
अनुचित है ? युद्ध में ही लीजिए, जो मनुष्य वास्तव में वी
प्रकृति का है उसे युद्ध में क्रोध कभी आता ही नहीं। आप
पुस्तकों में पढ़ा होगा कि जब एक छोटे और एक बड़े क
युद्ध आन पड़ा है तब सदा छोटे ने क्रोध और बड़े ने शांत
भाव का अवलंबन किया है। यदि जापानी लोगों ने पिछले
मंचूरियावाले महासमर में क्रोध से काम लिया होता, तो
उन्होंने उस रावण से प्रतिभाशाली रूस को कैसे जीता होता ?

क्यों रूस वही नहीं है जो बड़े बड़े गर्वपूर्ण कटु वाक्य

प्राय: देखा गया है कि क्रोध के वश हो कर लोग जिनसे नाराज होते हैं, उनके नौकरों को हानि पहुँचा देते हैं, जैसे " धोबी से न जीत गदहे के कान उखाड़ना "। यह बड़ी ही कायरता की बात है।

यदि यह कहिए कि सत्पुरुषों को जैसे उत्तम बातों पर आनंद आता है, वैसे ही बुरे कामों पर उन्हें क्रोध भी आना चाहिए, तो मानो आप ऐसा चाहेंगे कि महात्माओं में महानुभावता और नीचता दोनों ही रहनी चाहिएँ। चाहे आपके संबंध में कोई अनुचित बात हो, चाहे दूसरे के विषय में, पर आप को दोनों ही अवस्थाओं में क्रोध से दूर भागना चाहिए। प्राय: देखा गया है कि लोग क्रोध के वेग में अनुचित काम कर डालते हैं पर पीछे विचारने पर वे पछताते हैं, परंतु यदि कोई मनुष्य भली भाँति सोच विचार कर कोई काम करेगा, तो पीछे पछताने का उसे कभी अवसर प्राप्त न होगा।

जो काम क्रोध में किया जाता है उसका कुछ भी ठिकाना नहीं। वह तो मानो उसके कर्ता ने आँधी के बवंडर में पड़ कर विवस उड़ते हुए किया। प्राय: लोगों का ऐसा विचार है कि जो लोग बड़े ही सच्चे दिल के होते हैं उन्हें क्रोध शीघ्र आ जाता है, यद्यपि यह भी कही जाता है कि उसी भाँति ऐसे लोगों की क्रोधशांति भी शीघ्र ही हो जाती है। जो हो, पर यदि ऐसा है तो उनकी अच्छाई में यह बहुत बड़ा बट्टा है। यह सभी जानते हैं कि क्रोधी लोग कभी सुखी नहीं रहते, सो, मानो वे अच्छे आदमी भी समय पर दुखी

होना अच्छा समझते हैं। एक क्रोध ऐसा है कि वह इधर आया और उधर गया, पर दूसरे प्रकार का क्रोध चिरस्थायी होता है। दूसरे प्रकार के क्रोध को तो एक प्रकार की व्याधि समझना चाहिए, जो दुर्बल चित्तवाले मनुष्यों को सताती है, मानो प्रकृति उसके द्वारा उन मनुष्यों से बदला लेती है, जो अपने चित्त को दृढ़ और सिद्धांतप्रिय नहीं बनाते।

कुछ लोग ऐसे होते हैं जो छोटी छोटी भूलों पर अथवा अकारण ही अपने नौकरों या लड़कों पर नाराज़ हो जाते हैं, यहाँ तक कि उन्हें व्यर्थ ही उन बेचारों को ताड़ना करने में भी संकोच नहीं होता। यह बड़ी ही लज्जा की बात है। जो मनुष्य अपने वश में है उस पर यों अत्याचार करना क्रूरता, कायरता, और दुष्टता की पराकाष्ठा है। ऐसे ही लोगों के लड़के दुःख सहन करते करते अंत में उन्हें उत्तर देने लगते और उनसे बराबर लड़ने तक को प्रस्तुत हो जाते हैं। जहाँ आप देखिए कि पिता पुत्र में बिगाड़ है, वहाँ जाँच से ज्ञात हो जायगा कि प्रति सैकड़े ९९ उदाहरणों में पिता ही का यदि संपूर्ण नहीं तो अधिक दोष अवश्य है। जैसे दोपहर में सभी पदार्थ बड़े देख पड़ते हैं, उसी प्रकार बाल्यावस्था में छोटे छोटे दोष पहाड़ के समान ज्ञात होते हैं। इस भेद को न समझ के बालकों को झिड़कने अथवा मार बैठने से लाभ के स्थान पर हानि ही होती है। बालक बालिकाओं को यदि उनके अपराध करने पर टोका न जाय, अथवा उचित अवसरों पर यदि उनको ताड़ना न की जाय, तो उनके बिगड़ जाने में देर नहीं। इससे उन्हें बुरे कामों पर अवश्य [illegible] दिया जाय

देना चाहिए, परंतु क्रोधावस्था में कदापि नहीं। क्रोध
जाने पर उनके अपराध के अनुसार उन्हें दंड देना चाहि
बहुत लोग ऐसे अद्‌द और ओछे मन के होते हैं कि य
वे क्रोध की दशा में लड़कों के हाथ पैर ही तोड़ देंगे,
तो क्रोध उतर जाने पर उनसे लेश मात्र भी ताड़ना करते
बनेगी। ऐसा न करने से वे लोग प्रत्यक्ष सिद्ध क
कि वे किसी स्थिर सिद्धांत पर न चल क्षणभंगुर मनोवृत्ति
के ही वेग में पड़ कर कोई काम कर सकते हैं। भला
मनुष्य लड़कों को कब सुधार सकेंगे! इस पर उन्हें स्वयं
विचार करना चाहिए।

अब रही सेवकों की बात, सो उन्हें ताड़ना करने
कभी ध्यान ही न करना चाहिए। यदि आप उन से बिल्कु
ही असंतुष्ट हों, तो उन्हें अलग कर देना उचित है। छो
छोटे अपराधों पर उन्हें कभी कभी डांटने की भी आवश्यकत
पड़ती ही है। ऐसी दशा में क्रोध दूर हो जाने के पश्चा
उन्हें झिड़कना चाहिए परंतु बात बात में डांटते रहने से को
भी लाभ नहीं, वरन् इससे उल्टे यह प्रगट होगा कि आ
एक अद्‌द और छिछोरे मनुष्य हैं और सेवक बेहया हो क
आपको और भी कष्ट देने लगेंगे। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक
सुकरात को एक बार एक गुलाम पर बड़ा क्रोध आया, पर
उसने न उसे डाँटा और न मारा, केवल यही कह कर अपनी
मनस्तुष्टि कर ली कि "यदि मुझे क्रोध न आ गया होता तो
मैं तुझे अवश्य ठोंकता।" अन्य लोग जिस क्रोध के कारण
औरों को मार बैठते हैं उसी के हेतु सुकरात ने गुलाम को

मारने की कौन कहे उसे डाँटना तक उचित न समझा! महानुभावता यही है।

अंत को आप पूछेंगे कि अच्छा मान लिया कि क्रोध को एक किनारे रख सभी दशाओं में बुद्धि और विचारशक्ति से ही काम लेना चाहिए, पर यह तो कहिए कि क्रोध का वेग कैसे रोका जाय! क्या उसे कोई बुलाने थोड़े ही जाता है? वह तो आपहीं आप उमड़ पड़ता है। इसके उत्तर में हम कहेंगे कि उच्चतम श्रेणी के विज्ञानी और सिद्धांती मनुष्यों को यह विचार कर क्रोध न करना चाहिए कि वह एक ऐसी महा निषिद्ध और उन्मादरूपी मनोवृत्ति है कि जिस से हानियां अनेक होतीं और हो सकती हैं पर लाभ एक भी नहीं। परंतु सर्वसाधारण मनुष्यों के लिये क्रोध को रोकनेवाले निम्नलिखित उपाय और विचार ध्यान देने तथा मनन करने योग्य हैं—

(१) प्रारंभ से ही खुशामदी लोगों से दूर रहना चाहिए और अपने चित्त को दुर्बल और स्वेच्छाचारी न बनाना उचित है। ऐसा करने से यदि कुछ भी बात चित्त के प्रतिकूल हुई कि क्रोध का अविर्भाव हो जाता है, यहां तक देखा गया है कि कुछ लोग अपने सेवकों पर इतनी सी बात पर क्रोधांध हो जाते हैं कि पानी में बरफ ठीक न पड़ी, चद्दर बिछाने में दो एक सिकुड़न रह गई, उसने खड़ाऊं बिल्कुल सीधी न रख कुछ टेढ़ी रख दी, अथवा वह बाजार से मलाई की बरफ न ला सका, यद्यपि चाहे उस दिन ऐसी बरफ हाट में आई ही न हो! हम यह नहीं कहते कि लापरवाही से

काम करने के लिये नौकर को कभी न डाँटा जाय, पर क्रोध से प्रज्वलित हो जाने की इस में क्या आवश्यकता है ? ऐसे ही यदि कोई मित्र सच्चे चित्त से आपकी कोई त्रुटि आप पर उचित रीति से प्रकाशित करे तो आपको उसे धन्यवाद देना चाहिए और उसकी समालोचना पर कदापि रुष्ट न होना चाहिए। क्रोधजनक दशाओं में शांतचित्त रहने का अभ्यास बढ़ाते बढ़ाते ऐसा समय आ जायगा कि आपको जल्दी क्रोध आवेहीगा नहीं।

(२) यदि क्रोध आने लगे तो उसको प्रारंभ ही में दबाने का उद्योग करना उचित है, क्योंकि बढ़ जाने पर आप उसके स्वामी नहीं रह जाते वरन् वह उल्टा आप पर अधिकारी बन बैठता है। सुकरात को जब क्रोध आता तब वह अपनी बाणी को बंद कर देता, मंद मंद मुसकराने लगता और आंख को चढ़ने न देता। इस भांति उसका क्रोध कभी किसी पर प्रगट ही न हुआ।

(३) यदि औरों को क्रोधावस्था में दांत पीसते, अश्लील शब्द मुँह से निकालते, व्यर्थ शपथें खाते एवं अन्य अनेक निंद्य व्यापार करते देखिए, तो आप को सोचना चाहिए कि क्रोध की दशा में आपकी भी वही नीच गति होती होगी ! यह कैसी घृणित बात है !!. लोग इसे किस दृष्टि से देख रहे हैं !!! ऐसे ऐसे विचार समय समय पर करने से आप अपने को क्रोध में फँसने से रोक सकेंगे।

(४) ठंढे पानी से मुँह धो डालने से क्रोध शांत होता है। इसलिये जब कभी आप को क्रोध आने लगे, वहीं उसे

रोकने के अन्य उपायों को करने के अतिरिक्त ठंढे पानी से मुँह धो डालिए।

(५) शीशे में भी मुँह देखने से लोगों का क्रोध जाता रहता है, क्योंकि उन्हें अपना ही बिगड़ा हुआ मुँह देखने से लज्जा प्राप्त होती है।

(६) क्रोध की सब से बड़ी औषधि विलंब है। यदि आप क्रोध की अवस्था में कोई पत्र लिखिए, तो उसे जितनी देर तक हो सके अपनेही पास रख छोड़िए। दो एक दिन पीछे उसे पढ़ कर आप स्वयं ही लज्जित हूजिएगा कि यह क्या उट पटांग हमने लिख डाला था ? किसी पर क्रोध आवे तो उसी समय उस से बदला लेने और उसे दंडित करने का विचार तक न कीजिए। यह कार्य्य उस समय तक के लिये उठा रखिए जब तक क्रोध दूर न हो जाय। तब आप को थोड़ा विचार करने से ज्ञात हो जायगा कि उचित बात क्या है।

(७) चुगली खानेवालों को कभी मुँह न लगाइए। यदि कोई मनुष्य आप से कहे कि रामप्रसाद कहता था कि आप बड़े दुष्ट प्रकृति के और लोभी हैं, तो इसका सब से अच्छा उत्तर यह होगा—"तो रामप्रसाद ने इस में बेजा क्या कहा ? अवश्य ही उन्होंने हमें पूरे तौर पर जान लिया है, क्योंकि हम वास्तव में दुष्ट प्रकृति के और लोभी हैं।" यदि वह मनुष्य कहने लगे कि "आप ऐसा क्या कहते हैं ! आप तो एक बड़े ही साधु प्रकृति के और निर्लोभी पुरुष हैं", तो उत्तर में नम्रतापूर्वक कह दीजिए कि 'आप हमारे शुभचिंतक

हैं, इसी से आप हमें ऐसा समझते हैं, पर वास्तव
रामप्रसाद ने कहा वह बहुत ही ठीक है।" बस, इतना
लेने पर कदाचित् वह मनुष्य दूसरी बार आपसे किस
निंदा न करेगा और रही अपनी बात, सो न आप अपने
मियां मिट्ठू बनने से कुछ लाभ प्राप्त कर सकते हैं और
अपने को छोटा और सदोष कहने से आपकी कुछ हानि
संभव है; उल्टे लोग आपकी प्रशंसा ही करेंगे। चुगली खा
वाले लोगों की बातों पर ध्यान देने से आपका कोई भी
नहीं हो सकता। उनकी बातें सैकड़े में ९९ तो प्रायः मि
ही हुआ करती हैं और जो बात सत्य भी हो तो उसे
कर और उससे क्रोधांध होने से कुछ मिल न जायगा। बु
मान लोग आपकी पीठ पीछे निंदा सुन कर आपको
कभी न मान बैठेंगे और मूर्खों की ओर ध्यान देना ही
है। आपके वास्तविक कर्म जैसे होंगे, वैसे ही आप सत्
रूपों द्वारा भले या बुरे आदमी माने जायँगे। अतः अप
कामों की ओर ध्यान दीजिए और दूसरों के कहने की कु
परवाह न कीजिए।

(८) किसी मनुष्य ने आपकी निंदा की, ऐसा सुन क
आपको विचारना चाहिए कि क्या कभी आपने भी उसक
अथवा किसी अन्य पुरुष की उसी भांति निंदा की है य
नहीं ? क्या उस मनुष्य ने आपकी जिन बातों की निंदा क
है वे त्रुटियां वास्तव में आप में हैं तो नहीं ? यदि कहिए
कि वे ही अथवा उससे बढ़ कर दोष और लोगों में भी रहते
हैं तब आप ही की क्यों निंदा हो, तो इसका उत्तर हम यह

कि एक तो यदि सौ नकटों को देख कर आप अपनी भी
 काट डालें तो क्या आपकी लोग निंदा न करेंगे, और
रे यह कि आप कैसे कह सकते हैं कि अन्य दूषित मनुष्यों
निंदा होती ही नहीं ? कदाचित् उनकी आप से भी अधिक
ा होती होगी । परंतु यदि आपने कभी किसी की उसी
ार निंदा न की है और न आप में वे दोष ही वर्तमान
जो आप के निंदक ने आप में ठहराए हैं, तो आपको उस
प्रतिष्ठित निंदक की बात को उपेक्षा की दृष्टि से देखना
हिए। उस पर ध्यान देना ही व्यर्थ है।

अपनी निंदा सुन कर आप को यह भी ध्यान करना
ाहिए कि क्या आपके निंदक ने किसी वास्तविक भ्रम में
़ कर तो आप में वे ऐब नहीं समझ लिए, जिन को उसने
ाप पर आरोपित किया है ?

(९) हमको चाहिए कि समय समय पर अपने दुर्गुणों
र विचार करें और इस बात को भली भांति समझ लें कि
ृम में कौन कौन दूषण हैं। इसमें संदेह नहीं कि यह एक
कठिन काम है, पर—

"अतिशय रगड़ करे जो कोई ।
अनल प्रगट चंदन ते होई ॥"

इस सच्चे सिद्धांत के अनुसार यदि आप बार बार अपनी
त्रुटियों पर शुद्ध हृदय से ध्यान देंगे, तो धीरे धीरे आप अपने
सभी अवगुण जान लेंगे। इस से दो बहुत बड़े लाभ होंगे।
एक तो आप के दोष धीरे धीरे कम होते जाएंगे और दूसरे

यदि कोई आप की उन दोषों के लिये, जो आप में उपस्थित हैं, निंदा करे तो आप को कदाचित् उस पर क्रोध आवेहीगा नहीं, अथवा बहुत कम आवेगा।

(१०) इसी भांति हमको समय समय पर क्रोध के दुर्गुणों पर भली भांति विचार करना चाहिए और इस प्रकार उस पर हार्दिक घृणा उत्पन्न करनी चाहिए। उस में जो जो दोष पाए जाते हैं उनकी उचित गवेषणा कर हमें सोचना चाहिए कि वे कैसे उत्पन्न होते हैं; उन्हें लोग कैसे घृणित समझते हैं, और उन्हें अवश्य दबाना चाहिए। क्रोध के दुर्गुण भली भांति जानने के लिये उसका अन्य दूषणों के साथ मिलान करने से ज्ञात होगा कि प्रायः इतनी महा निंद्य और घृणित बातें और किसी प्रकार की बुराई में नहीं हैं। इन विचारों से धीरे धीरे आपको क्रोध से बड़ी ही घृणा उत्पन्न हो जायगी।

(११) "यदि छूरी खरबूजे पर गिरे तो खरबूजा कटे और यदि खरबूजा छूरी पर गिरे तो भी वही कटे" यह एक साधारण किंवदंती है। वास्तव में दोनों ही अवस्थाओं में हानि उसी को पहुँचती है जो क्षीण है। यह सभी कोई जानता है कि बुराई की अपेक्षा भलाई बहुत पुष्ट होती है। इससे दूसरी को पहली से किसी प्रकार की वास्तविक हानि नहीं पहुँच सकती। यदि कोई दुष्ट मनुष्य आपसे असद्व्यवहार करे, तो उल्टे उसकी हानि होगी और आप यदि भले हैं तो सारा संसार उस पर ही थूकेगा।

(१२) बुद्धिमान और भले मनुष्य ही सिद्धांतों पर चलते

लोग केवल मनोवृत्तियों के इशारे पर पशुओं की
जो कुछ जी में आ गया कर बैठते हैं। इसलिये जो
हानि आपको दुष्टप्रकृति के मनुष्य द्वारा पहुँच जाय, उसे
ही समझिए कि मानो अचानक किसी बंदर ने काट
या, अथवा किसी बैल ने सींग मार दी अथवा आप
फिसल कर गिर पड़े हों।

(१३) प्राय: बेसमझी से ही अपमानों की उत्पत्ति होती
। बुद्धिमान लोग सर्वसाधारण को उसी दृष्टि से देखते
जैसे वैद्य अपने रोगियों को। इसलिये वे उनके बकने पर
कुछ ध्यान नहीं देते।

(१४) अपराधी की सभी बातों पर भली भांति विचार
करने से कदाचित् आपको ज्ञात हो जायगा कि उस पर क्रोध
करना उचित नहीं। कदाचित् वह एक अनजान लड़का है,
तब तो उसे क्षमा ही कर देना चाहिए। यदि हमारे पिता
अथवा किसी अन्य बड़े ने कुछ अपराध किया है तो कहना
ही क्या है! उसने हमारे लिये अनेक कष्ट सहे होंगे और
वह हमारा सदा हित ही साधन करता रहा होगा, तब क्या
हम उसके [illegible] हीं कर सकते? कदाचित्
[illegible] ह अवज्ञा ही ठहरी, उस पर
[illegible] हमसे बहुत न्यून है, तब तो
[illegible] ावरवालों से
[illegible] ा को चाहिए
[illegible] ह काम विवश
[illegible] से [illegible] आप बांस की

लाठी पर क्रोध करेंगे ? कदाचित् आपने अपराधी को कभी पहले दुःख पहुँचाया है तब बदले में यदि उसने भी आपको कष्ट दिया तो इसमें कहना ही क्या है ? कदाचित् वह आपसे बड़ा है और आप ही के लिये उसने वह काम किया है जिसे आप भ्रमवश अपराध समझ रहे हैं ऐसी दशा में आपको उसका उपकार मानना चाहिए। क्रोध का इसमें जिक्र ही क्या है ? कदाचित अपराधी कोई जड़ जीव अथवा बिलकुल बेसमझ मनुष्य है तब उसपर क्रोध कर क्या आप भी अपने को उसी की कक्षा में सम्मिलित कर देंगे ! क्या किसी सत्पुरुष ने आप को हानि पहुँचाई है ? ऐसा कभी जल्दी से न मानिए। अवश्य ही उस बात में कुछ झूठ अथवा भूल होगी। क्या किसी बुरे मनुष्य ने वैसा किया है ? तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? पर क्या किसी बुरे आदमी के कारण आप भी वैसे ही बन जाना पसंद करेंगे ? कदाचित् नहीं। ऐसे ऐसे उपायों और विचारों द्वारा, जिनपर हम लोगों को सदा ध्यान देना चाहिए, क्रोध की मात्रा बहुत कुछ घटाई जा सकती है। जिसमें जितना कम क्रोध है उसमें उतना ही अधिक अंश ईश्वर का माना गया है। इससे यदि आपको चित्त की शांति पाने और संसार में सत्पुरुषों द्वारा प्रशंसित होने की कुछ भी इच्छा हो, तो क्रोध से यथाशक्ति सदा दूर ही भागिए। ऐसा सोचना व्यर्थ है कि "चाहे जो कुछ कहा या सोचा जाय, पर वास्तव में क्रोध का सम्हालना असंभव है।" हम मानते हैं कि साधारण मनुष्य सभी ठौर क्रोध नहीं रोक सकते, पर विचारवान को ऊपर लिखे और अन्य ऐसे ही

चौदहवाँ अध्याय।

सत्यता।

"सत्यान्नास्ति परोधर्मः" की कहावत हमारे यहां बहुत काल से प्रचलित है। अब हम यही पुण्यपूर्ण विषय उठाते हैं, जो हमारे आत्मशिक्षण ग्रंथ के सभी विषयों का मुकुटमणि है। यह अच्छी से अच्छी शिक्षा प्रायः अंत के लिये इस कारण रख छोड़ी गई कि जिस में विदा होते समय की सम्मति तो [illegible] स्मरण ही रक्खें।

ार के जाना है कि द्रव्य एक अज्ञेय पदार्थ है। हम
छ गुणों से जानते हैं। गुणों के ज्ञान से इतर द्रव्य
ाविक रूप अथवा उसकी असलियत हमें पूर्णतया
है।

ारे ज्ञान के साधन पंचेंद्रिय हैं। जो सांसारिक
अन्य विषय संबंधी ज्ञान हमें प्राप्त हुआ है वह
य ने ही प्रदान किया है। यह ज्ञान समय समय पर
करता है। जिसको आंखों में कांवरी रोग है उसे
छ पीला देख पड़ता है। न जाने वस्तुओं का वास्त-
ंग पीला है या जैसा उसे नीरोग लोग देखते हैं। फिर
वस्तु का रंग रात को एक प्रकार का देख पड़ता है,
र को दूसरी ही भांति का और ज्योति की कमी अथवा
ाक्य के अनुसार अन्य समयों में किसी और ही भांति
जब हमारी ही आँखों की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में
ऍ इतने रंग बदलती हैं तब चींटी, हाथी, बैल, छिपकिली,
, मछली, सिंह, सांप आदि की आंखों में उनका रंग रूप
। अँचता होगा, यह जानने के लिये हमारे पास कोई
धन नहीं है। तब उसका वास्तविक रंग क्या है, इस
र का उत्तर भी कोई नहीं दे सकता। हम केवल इतना
ानते हैं कि पंचेंद्रिययुक्त नीरोग मनुष्यों के नेत्रों को यदि
क विशिष्ट प्रकार की ज्योति सहायतार्थ मिले तो अमुक
दार्थ का ऐसा रंग देख पड़ेगा। यह रंग उसके वास्तविक
ग से क्या समानता रखता है, सो हम नहीं जान सकते।
सी भाँति स्वाद का हाल है। हमारा इसे [illegible] के

चौदहवाँ अध्याय।

सत्यता।

"सत्यान्नास्ति परोधर्मः" की कहावत हमारे यहां बहुत
काल से प्रचलित है। अब हम यही पुण्यपूर्ण विषय उठाते
हैं, जो हमारे आत्मशिक्षण ग्रंथ के सभी विषयों का मुकुट
मणि है। यह अच्छी से अच्छी शिक्षा प्राय: अंत के लिये इस
कारण रख छोड़ी गई कि जिस में बिदा होते समय की
सम्मति तो प्रिय पाठक स्मरण ही रक्खें।

सत्यता सभी शिक्षाओं, धर्मों, आचरणों, वर्णनों आदि
से सिरे है। जो मनुष्य इस का पूर्ण आदर करेगा वह प्राय:
कभी कोई अनुचित कर्म नहीं कर सकेगा। यह विषय देख
में अत्यंत सरल है किंतु दार्शनिक सिद्धांतों से विचार कर
पर ऐसा ज्ञात होता है कि वास्तविक सत्य का ज्ञान ह
लोगों को हो ही नहीं सकता। यह ज्ञान केवल ईश्वर को है
जो पदार्थ जैसा है उसके वैसे ही कथन को सत्य कथन कह
हैं। संसार प्रकृति से उत्पन्न है। यह दो प्रकार की है अथ
जड़ और चेतन। जितने पदार्थ हम देखते हैं वे सब या
जड़ हैं या चैतन्य। यदि प्रत्येक वस्तु के विभाग किए जा
तो उस का अंत जड़ अथवा चैतन्य परमाणुओं में मिल
है, अर्थात् परमाणु का विभाग नहीं हो सकता। इसी
द्रव्य (Matter) का अंतिम रूप कहते हैं। पंडितों

चार कर के जाना है कि द्रव्य एक अज्ञेय पदार्थ है।हम
केवल गुणों से जानते हैं। गुणों के ज्ञान से इतर द्रव्य
वास्तविक रूप अथवा उसकी असलियत हमें पूर्णतया
ज्ञात है।

हमारे ज्ञान के साधन पंचेंद्रिय हैं। जो सांसारिक
अथवा अन्य विषय संबंधी ज्ञान हमें प्राप्त हुआ है वह
चेंद्रिय ने ही प्रदान किया है। यह ज्ञान समय समय पर
दला करता है। जिसकी आंखों में कांवरी रोग है उसे
ब कुछ पीला देख पड़ता है। न जाने वस्तुओं का वास्त-
क रंग पीला है या जैसा उसे नीरोग लोग देखते हैं। फिर
सी वस्तु का रंग रात को एक प्रकार का देख पड़ता है,
पहर को दूसरी ही भांति का और ज्योति की कमी अथवा
धिक्य के अनुसार अन्य समयों में किसी और ही भांति
। जब हमारी ही आँखों की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में
स्तुएँ इतने रंग बदलती हैं तब चींटी, हाथी, बैल, छिपकिली,
क्षी, मछली, सिंह, सांप आदि की आंखों में उनका रंग रूप
सा जँचता होगा, यह जानने के लिये हमारे पास कोई
साधन नहीं है। तब उसका वास्तविक रंग क्या है, इस
प्रश्न का उत्तर भी । हम केवल इतना

चौदहवाँ अध्याय।

सत्यता।

"सत्यान्नास्ति परोधर्मः" की कहावत हमारे यहां
काल से प्रचलित है। अब हम यही पुण्यपूर्ण विषय
हैं, जो हमारे आत्माशिक्षण ग्रंथ के सभी विषयों का
माणि है। यह अच्छी से अच्छी शिक्षा प्रायः अंत के लि
कारण रख छोड़ी गई कि जिस में विदा होते सम
सम्मति तो प्रिय पाठक स्मरण ही रक्खें।

सत्यता सभी शिक्षाओं, धर्मों, आचरणों, वर्णनों
से सिरे है। जो मनुष्य इस का पूर्ण आदर करेगा व
कभी कोई अनुचित कर्म नहीं कर सकेगा। यह विष
में अत्यंत सरल है किंतु दार्शनिक सिद्धांतों से विच
पर ऐसा ज्ञात होता है कि वास्तविक सत्य का ज्ञ
लोगों को हो ही नहीं सकता। यह ज्ञान केवल ईश्वर
जो पदार्थ जैसा है उसके वैसे ही कथन को सत्य कथ
हैं। संसार प्रकृति से उत्पन्न है। यह दो प्रकार की
जड़ और चेतन। जितने पदार्थ हम देखते हैं वे स
जड़ हैं या चैतन्य। यदि प्रत्येक वस्तु के विभाग
तो उस का अंत जड़ अथवा चैतन्य परमाणुओं
है, अर्थात् परमाणु का विभाग नहीं हो सकता
द्रव्य (Matter) का अंतिम रूप कहते हैं।

विचार कर के जाना है कि द्रव्य एक अज्ञेय पदार्थ है।*हम उसे केवल गुणों से जानते हैं। गुणों के ज्ञान से इतर द्रव्य का वास्तविक रूप अथवा उसकी असलियत हमें पूर्णतया अज्ञात है।

हमारे ज्ञान के साधन पंचेंद्रिय हैं। जो सांसारिक अथवा अन्य विषय संबंधी ज्ञान हमें प्राप्त हुआ है वह पंचेंद्रिय ने ही प्रदान किया है। यह ज्ञान समय समय पर बदला करता है। जिसकी आंखों में कांवरी रोग है उसे सब कुछ पीला देख पड़ता है। न जाने वस्तुओं का वास्तविक रंग पीला है या जैसा उसे नीरोग लोग देखते हैं। फिर उसी वस्तु का रंग रात को एक प्रकार का देख पड़ता है, दोपहर को दूसरी ही भांति का और ज्योति की कमी अथवा आधिक्य के अनुसार अन्य समयों में किसी और ही भांति का। जब हमारी ही आँखों की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में वस्तुएँ इतने रंग बदलती हैं तब चींटी, हाथी, बैल, छिपकिली, पक्षी, मछली, सिंह, सांप आदि की आंखों में उनका रंग रूप कैसा जँचता होगा, यह जानने के लिये हमारे पास कोई साधन नहीं है। तब उसका वास्तविक रंग क्या है, इस प्रश्न का उत्तर भी कोई नहीं दे सकता। हम केवल इतना जानते हैं कि पंचेंद्रिययुक्त नीरोग मनुष्यों के नेत्रों को यदि एक विशिष्ट प्रकार की ज्योति सहायतार्थ मिले तो अमुक पदार्थ का ऐसा रंग देख पड़ेगा। यह रंग उसके वास्तविक रंग से क्या समानता रखता है, सो हम नहीं जान सकते। इसी भाँति स्वाद का हाल है। शर्करा हमें नीरोगावस्था में

मीठी लगती है किंतु विशिष्ट रोगों की दशा में कड़ई
नहीं जान पड़ता कि सब जीवों की विविध दशाओं प
नुसार विचार करने से उसमें वस्तुतः क्या स्वाद है
वस्तुओं का वास्तविक रूप एवं रस हमें अज्ञात है। यही
शब्द, स्पर्श और गंध की है। फिर अपनी पंचेंद्रिय से
एवं प्रकृति को हम एक प्रकार का जानते हैं, किंतु नह
सकते कि यदि कोई शरीरी षडेंद्रिय अथवा सप्तेंद्रिययुक्त
तो वह इन्हीं सांसारिक पदार्थों को कैसा जानता और ह
नीचे प्रकार के शरीरी आज कैसा जानते हैं ? अतः
यही तार्किक निष्कर्ष निकलता है कि संसार अथवा
कोई भी वस्तु हमारे लिये पूर्णतया अज्ञेय है। ऐसी द
हम वास्तविक सत्य बोलने का दावा किसी प्रकार नहीं
सकते। सत्य-कथन, सत्य-ज्ञान पर निर्भर है और
हमारा ज्ञान ही अनिश्चित है, तब सत्य भाषण कहाँ संभव

यहाँ तक तो सत्य की दार्शनिक विवेचना हुई। अब
प्रश्न उठता है कि साधारण सत्य भाषण की शक्ति हमें
प्राप्त हो सकती है ? मोटे प्रकार से सत्य-कथन के लिये इच
सामर्थ्य और श्रम-शीलता की आवश्यकता है। साधा
लोग सत्य के लिये केवल इच्छा की आवश्यकता समझते
किंतु बिना सामर्थ्य और श्रम के मनुष्य न चाहते हुए
झूठ बोल जायगा। यदि किसी को ऐसा रोग है जो साधार
दृष्टि से जाना नहीं जा सकता, तो उसके परखने में अप्रवी
पुरुष भारी भूल कर बैठेगा और ऐसी दशा में उसके कथ
नितांत अशुद्ध होंगे। स्वयम् हमने एक मरणप्राय रोगी

यही समझा था कि वह थोड़ा सा बीमार है और लोगों से ऐसा ही कथन भी किया, किंतु जब दो दिन के पीछे उसका शरीर ही छूट गया, तब लोगों ने हमसे कहा—"वाह साहब! आप भी खूब पेपर की उड़ाते हैं।" किसी स्थान पर कितने मनुष्य इकट्ठे हैं, इस महा सरल विषय का भी जानना कठिन है और जिसको ऐसा अनुमान करने का अभ्यास नहीं है वह भारी भूल कर जायगा। एक बार एक न्यायालय में हमारा हल्फ़ से बयान हो रहा था। एक वकील के अमुक स्थान में कितने मनुष्य होने का प्रश्न सुन कर हमने यही कहा कि मैं नहीं कह सकता। उन्होंने कहा "अटकल से कहिए जनाब!" मैंने उत्तर दिया "तीन से से पांच से तक हो सकते हैं।" मेरे पीछे जब एक ऐसे भद्र पुरुष का बयान हुआ कि जिसने वहाँ के लोग गिने थे, तो ज्ञात हुआ कि उस काल वहाँ केवल १६५ मनुष्य थे। बिना श्रम के भी मनुष्य वस्तुओं का सच्चा ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। रस्सी का साँप, एवं विटप का भूत इसी कारण से बनता है। अतः श्रम एवं सामर्थ्य के अभाव में सत्य बोलने की इच्छा रहते हुए भी मनुष्य प्रायः असत्य भाषण कर

भी वास्तविक सत्य का मुख्य
...न की इच्छा रखनेवाले के
...अनुरक्त हो, तब
...से बढ़ कर
...बुद्धिमान्
...और नहीं

हो सकता । सत्य ही कर्तव्य-परायणता का मूल
कादरता का शत्रु है । यदि साधारण लोग अपने हृदय पर
रख कर अपनी सच्ची समालोचना करें, तो अपने में
इतने दोष देख पड़ेंगे कि धैर्य्य लुप्त हो जायगा । इसीसे
गया है कि यदि लोगों के दोष उनके मस्तक पर लिखे
तो संसार में भौहों तक टोपी पहनने की रीति प्रचलित होत

असत्य के अनेकानेक प्रच्छन्न और प्रकाश रूप होते
अर्थात् अत्युक्ति, छद्म, परिवर्तन, झूठा वाद, (प्रच्छन्न त
प्रकाश) मौन इत्यादि । जब आपके न बोलने से कोई ऐ
बात समझे जो असत्य है, तब मौनावलंबन भी असत्य क
के समान हो जायगा । इसको प्रच्छन्न असत्य भाषण कहेंगे
जान बूझ कर ऐसा वचन देना जिसका पालन नहीं हो सकत
पूरा असत्य है । वादा, कथन और व्यवहार दोनों प्रकार
हो सकता है । किसी बात का ऐसा परिवर्त्तन कर के वर्णन कर
कि जिससे उसका असली रूप गुप्त रहे, एक प्रकार से असत
भाषण है । छद्म-कथन का भी यही हाल है । अत्युक्ति ए
अलंकार होने पर भी दार्शनिक सिद्धांतों से पूरा असत
कथन है ।

कुछ लोग सोचते हैं कि व्यापार चलाने में असत्य बोलन
ही पड़ता है । यह बात किसी भी अंश में यथार्थ नहीं
है । जो लोग अच्छा सौदा बेचते और खरे दाम लेते हैं,
लोग थोड़े ही दिनों में उनके सौदे की उत्तमता समझ कर
औरों की अपेक्षा उन्हीं की वस्तुएँ मोल लेना श्रेष्ठतर सम-
झने लगे हैं । इसीलिये अंगरेजी दूकानों का सौदा प्रायः

अच्छे दामों पर बिकता है और देशी दूकानदारों की मूर्खता के कारण उनकी वैसी साख बाज़ार में नहीं होती। देशी लोगों में प्रायः यह रुचि देखी जाती है कि जहाँ तक हो सके सस्ते दामों की वस्तुएँ तैयार हों। उसकी उत्तमता पर वे सारा विचार कभी नहीं करते और जिह्वा से सदैव उसके गुणगान में अत्युक्ति की भी टाँग तोड़ देते हैं। फल यह होता है कि इनके अच्छे माल के विषय में भी ग्राहक को संदेह लगा ही रहता है, सो अंगरेज़ी माल के बराबर अच्छा माल बना लेने पर भी इनको उतना मूल्य नहीं मिलता। यह अधिकतर कार्य्यकर्त्ताओं की बेईमानी का फल थोड़े से बेचारे ईमानदार उत्पादकों तक को भोगना पड़ता है। इसीलिये ऊपर कहा गया है कि सत्यता ही असली बुद्धिमत्ता है। जिस काल भारत में देशी शर्करा की मांग हुई, तब अदूरदर्शी हलवाइयों ने विलायती चीनी में गुड़ और मैल मिला कर देशी खाँड़ बनाया, जिससे थोड़े ही दिनों में ग्राहकों का उत्साह ठंडा पड़ गया और विदेशी शर्करा की मांग जैसी की तैसी बनी रही। इन सब बातों पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि व्यापार में भी सत्यता ही लाभदायिनी होती है।

सत्यता की शिक्षा मनुष्य को बाल्य वय से ही मिलनी चाहिए। बहुत से लोग ऐसे अदूरदर्शी होते हैं कि अपने [illegible] दिखा कर सिखलाते हैं। उनके [illegible] हाथ की वस्तु [illegible] दूसरे के [illegible] [illegible] [illegible]

सकती हैं। इसी प्रकार उनको रोने से डराने के लिये भूत, गोंगो, फनफटा आदि का भय दिखाते हैं, जिससे उनके कोमल हृदयों पर इन निस्सार पदार्थों के अस्तित्व का ज्ञान जम जाता है। ऐसी बातों से उन बालकों के जीवन में कितनी हानि होती है वह वर्णनातीत है। अल्प वय के सीखे हुए मिथ्या विश्वास जीवन पर्य्यंत लोगों को कठिनता से छोड़ते हैं। इसलिये उचित है कि विनोद इत्यादि अथवा किसी भी अन्य दशा में बालकों से कोई मिथ्या बात न कही जाय। बालक स्वभावतः बहुत ही अनुकरणशील होता है। इसलिये अपने प्रत्येक आचरण से उसे उच्च शिक्षा देनी उचित है। आचरणों का प्रभाव बालक पर बहुत ही अधिक पड़ता है, सो इस पर सदैव पूरा ध्यान रखना चाहिए। बहुधा देखा गया है कि बालक जब साथ चलने को रोने लगते हैं तब उनके पिता, ज्येष्ठ भ्राता आदि कह देते हैं कि घर जा कर कपड़े पहन आओ। जब तक वे कपड़े पहन कर बाहर आवें, तब तक स्वयं पालक महाशय वहाँ से खिसक देते हैं। इस प्रकार पालक के असत्याचरण से बालक असत्य का बहुत बड़ा पाठ सीखता है। अतः कथन और आचरण दोनों प्रकार से उसे उच्च शिक्षा देनी चाहिए। उनको किसी प्रकार यह ज्ञात ही न हो कि झूठ भी बोला जाता है। बालकों में सत्यप्रियता उत्पन्न करने के कुछ उपाय हम नीचे लिखते हैं।

भी विषय पर कदापि कोई बात झूठ
न उन्हें अपने आचरणों द्वारा झूठ
में अनुकरण-शक्ति बड़ी प्रबल एवं

नैसर्गिक होती है और उसीके द्वारा वे सब कुछ सीखते हैं। यदि उनसे कभी झूठ न बोला जाय तो वे इस अवगुण के उद्भावना को कभी जाने भी नहीं।

(२) उनकी बात पर विश्वास किया जाय जब तक कि यह ज्ञात न हो जाय कि वे जान बूझ कर झूठ बोल रहे हैं। किसी की बात पर विश्वास न करने से उसे मिथ्या भाषण की उत्तेजना होती है।

(३) सत्य बोलने की ओर प्रसंशा द्वारा उनकी रुचि बढ़ाई जाय और झूठ बोलने की निंदा कर उस पर घृणा उत्पन्न कराई जाय।

(४) यदि लड़का कोई बात झूठ बोले तो उसे तत्काल ही रोका जाय परंतु ऐसे कह कर नहीं कि "झूठा है ! भाग झूठा कहीं का !! अरे वाह रे झूठे !!! ऐसा कहना तो मानो उसे झूठ बोलने पर शाबाशी देना है। उससे यों कहना चाहिए कि "अरे ! कोई झूठ बोलता है !! यह बड़ी खराब बात है। बदमाश और लुच्चे झूठ बोला करते हैं पर भला आदमी कहीं ऐसा करता है !!! राम राम ! ऐसा अब कभी मत करना" इत्यादि।

(५) यदि ऐसा करने पर भी लड़का झूठ न छोड़े तो उसे कड़ा दंड देना चाहिए। धीरे से एक चपत लगा देने की अपेक्षा न मारना अच्छा है। जब लड़कों को मारे तब अच्छी तरह ताड़ना करे, जिससे बार बार इसकी आवश्यकता न रहे और लड़के की मार खाने की लज्जा एवं उसका भय न छूट जाय।

है और वे ही लड़के बड़े हो कर सत्यवादी और ईमानदार मनुष्य हो सकते हैं। माताओं को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। बूढ़े तोते राम राम नहीं करते। जिसकी नस नस में लड़कपन से ही झूठ बोलना भरा है, जो उमर भर निधड़क *मिथ्या भाषण* करता रहा है, जो "*मौका महल*" विचार कर बात करता है; अर्थात् सभी बातों में पहले यही विचारता है कि ऐसे अवसर पर सच बोलने से मतलब निकलेगा या झूठ बोलने से, जिसे झूठ का ध्यान आते ही चित्त में घृणा उत्पन्न नहीं होती, वह बेचारा क्या सत्यवाद करेगा, क्योंकि अभ्यास ही स्वभाव का पिता है। अतः बालकों को प्रारंभ से ही सत्यवादी और सत्यताप्रेमी बनाने की पूर्ण चेष्टा हम लोगों को करनी चाहिए।

महात्मा तुलसीदास जी ने क्या ही ठीक कहा है—

"*नहिं असत्य सम पातकपुंजा।*
गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा?"

इस छंद के आशय पर बहुत लोग ध्यान नहीं देते। *तुलसीदास जी के मत से जहाँ एक असत्य मात्र पहाड़ के* बराबर पातक है वहाँ अन्य करोड़ों प्रकार के पाप केवल एक एक गुँज, अर्थात् घुँघुची या रत्ती के बराबर हैं। एक विधर्मी *महात्मा ने कहा है कि जो कुछ हमारे भीतर जाता है,* उससे हम प्रायः उतने अपवित्र नहीं होते, जितना कि जो कुछ भीतर से बाहर आता है उससे होते हैं। "जो कुछ भीतर जाता है" *से तात्पर्य है खाद्य पदार्थों का और* "जो कुछ भीतर से बाहर आता है" इससे अभिप्राय है झूठ बोलना,

दगाबाजी और अन्य घृणित कर्म करने के विचार। क्योंकि प्रथमतः मनुष्य के चित्त ही में ऐसे कर्म करने के विचार उठते हैं और बाहर आते हैं। अहा! कैसा उत्तम वाक्य है! सुनते है कि जहाँ ऊपरी आडंबर बहुत बढ़ जाते हैं वहाँ वास्तविक धर्म की बातें प्रायः लुप्त सी हो जाती हैं। हम लोगों के यहाँ ऐसा ही हुआ—खान पान, छुवा छूत, ऊँच नीच इत्यादि के स्वार्थियों ने इतने ढकोसले बढ़ा दिए कि धर्म के मुख्य अंग—सत्यता, निस्स्वार्थता, दया, शूरता, दान, स्वदेशानुरागादि लुप्तप्राय हो गए! हमारे देश के दुर्भाग्य का सब से बड़ा कारण यही है।

विलायत में एक गोष्ठी के लोग होते हैं जो क्वेकर्स (Quakers) कहलाते हैं। वे लोग तो सत्यता की प्रायः अंतिम सीमा तक पहुँच गए हैं। उनकी कुछ बातें पाठकों के विनोदार्थ लिखते हैं—

(१) वे साहित्य को एकदम नापसंद करते हैं, क्योंकि उसमें झूठ बहुत होता है। कवियों का सही घटनाएँ वर्णन करने में भी वे नमक मिर्च के काम प्रायः नहीं चलता, पर क्वेकर लोग जहां एक अक्षर भी झूठ का आ गया कि वह उससे कोसों भागते हैं। अतः वे लोग बहुत कर के नाटक-ग्रंथ कभी देखते ही नहीं।

(२) जैसे हमारे यहाँ लोगों को प्रायः "महाशय" कहा जाता है, वैसे अंगरेज़ी में सर (Sir) ... और पूरित तो 'सर' ... के (Knight) हो। अतः क्वेकर

लोग सर्वसाधारण को कभी "सर" कह के नहीं संबोधन करते। यदि आप उन्हें "सर" कहें या लिख दें, तो वे आपको तत्काल ही स्मरण दिला देंगे कि वे नाइट (Knight) नहीं हैं और आप उनसे "सर" कहने में झूठ बोले।

(३) वे लोग जब कोई सौदा सुलुक लेने बाजार जाते हैं, तो दूकानदार से केवल एक बार पूछ लेते हैं कि किसी वस्तु विशेष का जो उन्हें क्रय करनी है क्या मूल्य है? यदि सौदागर का बतलाया मूल्य उन्हें ठीक जँचा तो वे उतना दाम दे कर सौदा ले लेते अन्यथा "मुझको मूल्य अधिक जान पड़ता है" यही कह कर चल देते हैं; मोल तोल कभी भूल कर भी नहीं करते। यदि दूकानदार उन्हें फिर बुला कर उसी पदार्थ का दाम कुछ घट कर बतावे तो वे उसकी बात को भी न सुनेंगे, यही कह देंगे कि "तू मुझसे झूठ क्यों बोला"? और फिर यथासाध्य उसकी दूकान पर सौदा लेने कभी न जायंगे। यह जान कर दूकानदार भी उनसे कभी किसी वस्तु का दाम एक पैसा भी बढ़ा कर नहीं कहते।

(४) यदि आप उनसे पूछें कि कोई स्थान विशेष कितनी दूर है और यदि वहाँ के रास्ते पर मील के पत्थर न लगे हों अथवा उन्हें उन महाशय ने गिन न लिया हो तो वे यही उत्तर देंगे कि "मैं नहीं कह सकता।" अटकल की बात वे लोग कभी कहते ही नहीं, क्योंकि वह "झूठ" हो सकती है! ऐसे ही यदि आप उनसे समय पूछें और उनके पास घड़ी न हो अथवा वह बिलकुल ठीक न हो तो उत्तर वही होगा जो .: लिखा है। इसी प्रकार यदि कोई तीसरा आदमी था

से समय पूछे और आप अपनी घड़ी में १० बजने में १ मिनट बाकी देख कर कह बैठे कि दस बजे हैं, तो यदि वहाँ कोई क्वेकर बैठा हो और उसकी घड़ी ठीक हो तो वह उसे देख कर कहेगा कि "नहीं ! दस बज गए कहना झूठ था, उस समय दस बजने में १ मिनट ३७ सेकंड बाकी थे"।

(५) अंगरेजी में यू (You अर्थात् आप) कह कर संबोधन करने की चाल है, पर यह शब्द बहुवचन होने से एक मनुष्य के विषय में प्रयुक्त न होना चाहिए, वरन् इसका एकवचन दाऊ (Thou) अर्थात् " तू " कहना चाहिए। क्वेकर लोग भला कोई अशुद्ध (अर्थात् उनके मतानुसार झूठ) शब्द काहे को बोलने लगे ? अतः वे सब को " तू " (Thou) कह कर संबोधन करते हैं और भूल कर भी " आप " (You) नहीं कहते, क्योंकि एक मनुष्य के विषय में ऐसा कहना "झूठ बोलना" है। वे लोग सभ्यता को भी सत्यता के सामने तुच्छ मानते हैं।

यदि सच पूछिए तो सत्यता इसीका नाम है। जब क्वेकर लोग सत्यता का ऐसी ऐसी छोटी बातों में इतना विचार रखते हैं, तो आप समझ सकते हैं कि दगाबाजी के लिये भला वे कभी झूठ बोल सकते हैं ! कदापि नहीं !! प्राण जाने पर भी नहीं !!! ऐसे लोग धार्मिक हैं। ऐसे लोग महात्मा हैं न कि दंभी, मिथ्यावादी, दगाबाज।

क्वेकरों के उपरोक्त वर्णन करने का हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि सब लोगों को इन्हीं के समान समाज में कथन करना और आचरण रखना चाहिए। प्रयोजन केवल

इतना है कि सत्य की खोज में लोग यहाँ तक गए हैं। वास्तव में यदि सत्य की इच्छा रखनेवाले किसी पुरुष के मुख से श्रमाभाव आदि से कोई असत्य बात भी निकल जाय तो वह मिथ्याभाषी नहीं कहा जा सकता। शास्त्रों में यहाँ तक कहा गया है कि—

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
सत्यं च नानृतं ब्रूयादेपधर्मः सनातनः॥"

अर्थात् प्रत्येक सुधी पुरुष को सत्य कथन करना चाहिए और उसीके साथ प्रियवादी भी होना उचित है। जहाँ तक कोई विशेष आवश्यकता न पड़े, अप्रिय सत्य कथन से बचा रहे। इसीके साथ ऐसा भाषण भी न किया जाय जो साथ ही साथ सत्य और झूठ हो, अर्थात् अर्द्ध सत्य कथन न किया जाय। अर्द्ध सत्य का एक उदाहरण यही है कि जब यह प्रश्न हुआ कि क्या आपने अपने पिता का भारी निरादर किया है, तब अपने मन में निरादर को हलका समझ कर उत्तर केवल यही दिया जाय कि यह बात बिल्कुल झूठ है। अतः शास्त्रकारों ने अनावश्यक अप्रिय सत्य एवं अर्द्ध सत्य को सनातन धर्म के विरुद्ध कह कर पापकारी माना है।

बहुत लोग कहते हैं कि सत्य कहने से साथ नहीं रहता और इसके उदाहरणों में उस दुष्ट पुत्र का वाक्य उद्धृत करते हैं जिसने अपनी विधवा माता के थोड़े से शृंगार पर उसके आचरण पर संदेह प्रकट करनेवाला कथन किया था। ऐसे कथन को सुन कर माता के स्वभावतः रुष्ट होने से वे लोग [illegible] विचार की पुष्टि मानते हैं। यहाँ उसी

अनावश्यक अप्रिय सत्य का मामला सिद्ध होता है न कि सत्य से साथ न रहने का। प्रत्येक सत्यवादी का यह कर्तव्य नहीं है कि वह सब का मानभंग करता फिरे। किसीके अयोग्य प्रश्न करने पर भी आप झूठ न बोल कर कह सकते हैं कि मैं ऐसे अनावश्यक प्रश्नों का उत्तर देना नहीं चाहता, अथवा युक्तिपूर्वक उसको बचा सकते हैं। अंग्रेजों से जब किसीसे लड़ाई हो पड़ती है और वह उनका नाम अभियोग चलाने को पूछता है, तब प्रायः देखा गया है कि झूठ नाम बतला कर पिंड छोड़ाने के स्थान पर वे नाम ही नहीं बतलावे, किंतु देर तक बहस कर के जब नाम बतलाते हैं, तब वह सचा ही नाम होता है। ऊपर दिखाया जा चुका है कि असत्य में कितने दुर्गुण भरे हैं। यदि एक स्वतंत्र उत्तर से इतने दोष बच सकते हैं तो उनके अंगीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है। लोग औरों की दृष्टि में सज्जन अथवा उदारचेता बनने के इतने उत्सुक रहते हैं कि स्वयं अपनी साक्षी को बिलकुल ही भूल जाते हैं। जब तक कोई उचित समालोचक अपनी ही दृष्टि में सज्जन अथवा उदारचेता नहीं है तब तक दूसरों की दृष्टि में ऐसा बनने के लिये यत्नवान् होना उसका कैसा घृणित कर्म है सो स्पष्ट प्रगट है। फिर भी लोग स्वयं अपनी अपेक्षा औरों पर सज्जनता प्रकट करने के परमोत्सुक देखे गए हैं। यही घृणित लालसा असत्य की जननी और संसार के आधे से अधिक पापों की उत्पन्न करनेवाली है। प्रत्येक चतुर पुरुष जब स्वयम् अपने को अपने आचरणों से संतुष्ट कर सकेगा, तब वह देखेगा कि संसार

अंधा नहीं है और इस दशा के पहले ही से उसे पूज्य म
लग चुका है। जहाँ कहीं सत्य बोलने से कोई भारी पा
पड़ता हो, वहाँ किसी प्रकार से अपने धर्म को बचा लेना
ठीक है। जैसे यदि डाकू लोग किसी के गुप्त धन का
अपने से पूछते हों, तो वश होने पर मिथ्या भाषण द्व
भी अपना पिंड छुड़ाना पातक नहीं है, यद्यपि पूर्ण पुण्य य
कहा जायगा कि ऐसी दशा में भी मनुष्य प्राण तक न्योछ
वर कर के सत्य व्रत का पालन करे। परिहास में कि
साधारण असत्य कथन को शास्त्रों ने पातक नहीं माना
और वास्तव में ऐसा माना भी नहीं जाता है, किंतु पूरे सत
व्रती को असत्य भाषणवाले परिहासों में संलग्न ही
होना चाहिए। जिन कथनों का अभिप्राय असत्य हो औ
केवल ध्वनि-व्यंग्यों द्वारा ही सत्यार्थ निकले, वे असत्य नहं
कहे जा सकते, क्योंकि उनका वास्तविक अर्थ असत्ययुक्त
नहीं है।

सभी स्थानों पर सत्य व्रत का पालन बड़ा कठिन धर्म है,
किंतु वस्तुतः महानुभाव पुरुष वही माना जायगा, जो ऐसे
समयों में भी "अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो" द्वारा अपने
धार्मिक स्वभाव को झूठा बोध न होने देवे। महात्मा सत्यकाम
जबाला ने जिस काल अपने गुरु से अपना जारज होना तक
स्वीकार कर लिया किंतु पिता का झूठा नाम बतला कर
सत्यव्रत को नहीं भंग किया, उसी समय से उसकी महत्ता
कम होने के स्थान पर संसार में और भी जम गई। महात्मा
गुरु गोविंद सिंह के सुपुत्रद्वय दिखलाने भर को कलमा पढ़

र बड़ी सुगमता से अपने प्राण बचा सकते थे, किंतु पूर्ण सत्य का आदर करके वे सहर्ष स्वर्ग-लोक को पयान कर गए, यद्यपि जीते जी वह से गए परिवर्तन करानेवालों के काठ शुओं पर थूकते ही रहे। ऐसे ही ऐसे महत्वापूर्ण उदाहरणों से देश का मुख समुज्वल होता है। हजारों मनुष्य प्लेग से क्या नित्य प्रति गीदड़ों की भाँति नहीं प्राण त्यागते ? फिर इन्हीं दो पुरुषरत्नों के मरने से क्या देश उजाड़ हो गया ? इन्होंने मर कर भी दिखला दिया कि पुरुष किसे कहते हैं। यों तो सारी दुनिया के जिह्वा, कान और मस्तिष्क होते हैं किंतु—

"कहिबो सुनिबो सोचिबो धीरन को कछु और।"

पंद्रहवाँ अध्याय।

संसार की सारता।

हमारे यहाँ प्रायः सभी बातों में इस "असार संसार" का कथन आगे चलता है। बात बात में संसार को तुच्छ, मिथ्या, झूठा, मायामय, धोखे की टट्टी, असार, स्वप्नवत, मृगतृष्णा, पंछी रैन बसेरा, पानी का बुलबुला, बालू की भित्ति, इत्यादि विशेषणों से विभूषित अथवा कलुषित करने की ऐसी कुछ रीति सी पड़ गई है कि कभी कभी बिना विचारे भी लोग इस भाँति के कथन कर बैठते हैं। यह एक प्रकार से धार्मिक विषय है और आचार-शास्त्र के ग्रंथ में इसका स्थान पाना ही साधारणतया अनुचित है, किंतु भारतवर्षीय आचार पर इसका प्रभाव इतना पड़ा है कि इसे यहाँ से अलग रखना अनुचित समझ पड़ता है।

सांसारिक असारता के विचारों की उत्पत्ति विशेषतया शंकर स्वामी के अद्वैतवाद से समझी जाती है। अद्वैतवाद का कथन है कि संसार मायामय मात्र है, जो माया ईश्वर के लिये झूठी है किंतु हमारे लिये सची। महात्मा शंकराचार्य ने "तत्त्वमसि" का अर्थ कर के ईश्वर और जीव को एक ही माना है और इनमें केवल अविद्या का अंतर बतलाया है। ईश्वर पूर्ण ज्ञानी होने से इस मायामय संसार के वास्तविक मिथ्यात्व एवं अनस्तित्व को जानता है, परंतु जीव अहंकारी एवं

ज्ञानी होने से इस माया को वास्तविक पदार्थ समझता है। अतः प्रगट है कि जीव के लिये यह संसार सच्चा है, क्योंकि जब तक उसे पूर्ण ज्ञान नहीं होता, तभी तक वह संसार में रहता है और माया को सच्चा मानता है। जब वह पूर्ण ज्ञानी हो जाता है तब अपने स्थूल, सूक्ष्म और बुद्धि शरीरों का दलन कर के अपने वास्तविक अस्तित्व अथवा अनस्तित्व को प्राप्त हो जाता है और संसार में नहीं रहता। अतः शांकर सिद्धांत के अनुसार भी प्रकट है कि संसार यहाँ के निवासियों के लिये पूर्णतया सच्चा है। जिसको इसे झूठा जानने की पात्रता हो जाती है उसके रहने योग्य संसार नहीं रहता अथवा यों कहें कि वह संसार में रहने योग्य नहीं रह जाता। अतः शंकर स्वामी के अनुसार भी यह संसार सभी जीवधारियों के लिये पूर्णतया सच्चा है। संसार के इतर प्रदेशों के अज्ञात निवासी इसे कैसा समझते हैं सो जानने की हमें कोई आवश्यकता नहीं है। उधर विशिष्टाद्वैतवादियों ने प्रकट रूप से संसार को सत् माना है।

अतः हमारे शास्त्रों में जो इस जगत् को बहुधा सारहीन माना गया है उसका प्रयोजन यह है कि हम लोगों को उसमें नितांत लिप्त हो जाना उचित नहीं और यह समझ कर कि इस दुनिया में हमें सदा नहीं रहना है, बुरे कर्मों से डरना तथा अच्छी बातों में दत्तचित्त होना चाहिए। शास्त्रकारों का यह प्रयोजन कदापि न था कि हमें पृथ्वी पर अपने कर्त्तव्य से ही पराङ्मुख हो "दुनिया दुरंगी मकारा सराय" कह कर हाथ पैर समेट कर चुपचाप बैठ रहना ठीक है। यदि

ऐसा न होता तो भगवान श्रीकृष्ण गीता में अर्जुन को कर्म-योग का सिद्धांत क्यों समझाते और इस बात पर क्यों इतना जोर दिया जाता कि प्रत्येक मनुष्य को अपना कर्त्तव्य अवश्य पालन करना चाहिए? मनुष्य में स्वार्थ की मात्रा प्रायः बहुत विशेष हुआ करती है, जिसके वश वह उचितानुचित बातों और कामों पर कभी कभी विचार न कर के अपना मतलब बनाने में इतना अंधा हो जाता है कि बड़े बड़े घृणित और गर्हित कुकर्म तक कर डालने में उसे आगा पीछा नहीं होता। इस भयंकर कुदशा से बचाने के लिये हमारे विज्ञ शास्त्रकारों ने हमें ठौर ठौर पर संसार की असारता दिखलाई है, न कि इसलिये कि पृथ्वी पर लोग कर्त्तव्य-पालन ही न करें।

जब तक हमारे प्रिय भारतवर्ष की दशा अच्छी रही, तब तक इस सिद्धांत का प्रयोग केवल समुचित रीति पर ही किया गया, पर जब दुर्भाग्यवश हम लोगों का अधःपतन प्रारंभ हुआ, तभी कुछ काल के लिये शास्त्रों की इस उत्तम शिक्षा का भी मतलब हम लोग यह समझने लगे कि दुनिया में कुछ है ही नहीं, सो पुरुषार्थ करना व्यर्थ है। इन्हीं विचारों के बढ़ने पर पेट "पापी" कहलाने लगा, यद्यपि वास्तव में कर्मण्यता का यही मूल कारण है, क्योंकि कुछ न कुछ कर के इस "पापी पेट" को नित्य "चाडांल की झोली" के समान भरना ही पड़ता है। यदि पेटदेव न होते तो "संसार की असारता" के ढकोसले पर कुछ लोग कदाचित् अकर्मण्यता की पराकाष्ठा तक पहुँच जाते। अकर्मण्यता से संतोष की

ऐसी अनुचित वृद्धि हुई कि कुछ लोगों को "चना चबैनी गंग जल" मात्र की आवश्यकता रह गई। उधर पाश्चात्य देशों में काम करने का महत्व ऐसा बढ़ा कि उसे कभी कभी जप तप तक की उपाधि मिल गई। कार्लाइल ने यहाँ तक स्पष्ट रूप से लिख दिया कि परिश्रम ही पूजन है। हम लोगों की अकर्मण्यता तथा पाश्चात्य जातियों की कार्य्यदक्षता के जो परिणाम हुए हैं वे किसी भी आँखवाले से छिपे नहीं हैं, पर जो लोग आँखें रखते हुए भी देखना नहीं चाहते, उन्हें कौन दिखला सकता है ? जब हम सभों की अथवा हममें से अधिकांश लोगों की आँखें खुल जाँयगी, उसी दिन भारतवर्ष से "कलि काल" दूर हो जायगा। संसार की असारतावाले विचारों के अनुचित अर्थ से भारत में अकर्मण्यता और संतोष की परम हानिकारिणी वृद्धि हुई, जिससे धीरे धीरे इसका पूर्ण अधःपतन हो गया। गोस्वामी तुलसीदास से ईश्वर के अटल भक्त तक ने कहा है कि—

"कादर मन कर एक अधारा।
दैव दैव आलसी पुकारा॥"

इस लिये संसार की असारतावाले भेद-विचार बिलकुल पोच समझने चाहिएँ।

यह संसार कदापि असार या झूठा नहीं है, वरन बिलकुल सच्चा एवं सारगर्भित है। यह ईश्वर की चमत्कारिणी रचना है और इसे झूठा या मिथ्या कहना एक प्रकार से ईश्वर पर कलंक लगाना है। यदि वह सच्चा है तो फिर उसकी रचना झूठी कैसे हो सकती है ! क्या झूठे ही उसके

कूट और सुमेरु मंदर उसके अस्थि हैं, सर्पगण उसके नस, पवन उसके तन छिद्र हैं, सूर्य चंद्र ही उसके नेत्र हैं; आदि, इत्यादि। अतः स्पष्ट है कि यदि ये सब पदार्थ असार और मिथ्या हैं तो स्वयं भगवान का विराट रूप ही मिथ्या होगा। हम सभी लोगों के लिये यह प्रमाण देना उचित अथवा आवश्यक नहीं समझते पर इतना विशेष कहेंगे कि हिंदू सनातनधर्मावलंबी महाशयों को संसार को असार कह कर स्वयं भगवान के विराट रूप को मिथ्या बनाना कदापि उचित नहीं।

इसमें संदेह नहीं कि संसार की सभी वस्तुएँ नाशमान हैं, किंतु फिर भी पूर्ण विनाश किसी वस्तु का नहीं हो सकता और द्रव्य एवम् शक्ति, रूप भले ही बदला करे, किंतु उसका नाश असंभव है। रूप के विषय में भी देखिए कि अब श्रीरामचंद्र नहीं हैं, श्रीकृष्ण भगवान नहीं हैं, वेदव्यास नहीं हैं, गौतमबुद्ध नहीं हैं, शंकर स्वामी नहीं हैं, विश्वामित्र, पाणिनि और पतंजलि नहीं हैं, किंतु फिर भी जब तक इनके यशोरूपी शरीर संसार में शेष हैं, तब तक ये बिना शरीर के भी जीवित हैं। अतः यदि हम भी पुरुषार्थ दिखला कर अपनी जाति और अपने देश का हित कर के संसार में अपना नाम अमर कर सकें, तो अमरत्व के पद को पा सकते हैं।

बहुतों का विचार है कि एक एक प्राणी के लिये संसार को एक प्रकार से तो असार कह सकते हैं कि उसके नेत्र मुंद जाने के पीछे उसके लिहाज कुछ नहीं रहा, मानो सर्व-नाश हो गया। यह बात बिलकुल ठीक नहीं है। इसके ऐसे

यह बड़ी स्वार्थपरता की बात है कि हम न रहे तो संसार ही न रहा। एक साधारण व्यक्ति है ही क्या वस्तु ? संसार के आगे वह एक नितांत तुच्छ जीव है, मानो अणुमात्र भी नहीं है। उसके रहने या न रहने से संसार पर क्या प्रभाव पड़ सकता है ? उसके ऐसे एवम् उससे बढ़ कर असंख्य जीव एक इसी पृथ्वी पर वर्त्तमान हैं। फिर यह पृथ्वी एक ही ब्रह्मांड का एक बहुत ही छोटा अंश है। ऐसे और इससे बड़े करोड़ों ब्रह्मांड ईश्वर ने रच रक्खे हैं कि जिन्हें सोचने तक से मनुष्य की छोटी बुद्धि चक्कर खाने लगती है। ईश्वर की सृष्टि में हमारा कितना छोटा पद है, इसे विचारना तक बहुत कठिन है। तब कोई विज्ञ पुरुष ये सब बातें जान कर संसार के आगे आत्मगौरव संबंधी विषयों पर जिह्वा हिलाने तक की हिम्मत कैसे कर सकता है ? यदि हम न भी रहे, पर अपने ठौर लड़के बाले छोड़ गए, तब हमारे हिसाब भी संसार कभी मिथ्या नहीं कहा जा सकता। एक एक प्राणी के लिये चाहे संसार स्थिर न भी देख पड़े, पर जाति के लिये, राष्ट्र के लिये, देश के लिये वह स्थिर ही देख पड़ेगा। यदि रामचंद्र अब नहीं हैं, तो भी उनके वंशज महाराणा उदयपुर तथा लाखों अन्य मनुष्य वर्त्तमान हैं। यदि गौतम बुद्ध का स्थूल शरीर यहाँ अब देखने में नहीं आता, तो भी उनका मत [illegible] करोड़ों मनुष्य चीन, जापान, ब्रह्मा, आसाम [illegible] पड़े हैं। यदि विश्वामित्र अब इस लोक में नहीं [illegible] लाखों वंशधर भारतवर्ष ही में प्रस्तुत [illegible] तृतीय मंडल के पाठ करने-

ले उनकी कीर्ति को बढ़ा रहे हैं। अतः किसी जाति एवं महानुभाव के लिये संसार को झूठा अथवा असार कहना कोटि प्रकार से भी नितांत अनुचित और अशुद्ध समझ पड़ेगा। हम जो पुरुषार्थ करेंगे, उसका फल हमें, हमारी संतति एवम् देशवालों को मिलेगा। गौतम बुद्ध ने जो सिद्धांत और महत्व भारत को प्रदान किए हैं, उनका मीठा फल हम आज भोगते हैं। शंकराचार्य ने जो अद्वितीय उपकार कर के भारत में मत संशोधन किया है, उसके सिद्धांत आज भी हमें ऊँचा बना रहे हैं। व्यास भगवान ने हमारे लिये जो कर्तव्य शास्त्र स्थिर कर दिया था, उसे हम आज भी अपना जीवन-लक्ष्य समझते हैं। पृथ्वीराज ने कगार के युद्ध में जो मूर्खता दिखलाई थी, उसका फल हम आज भी भुगत रहे हैं। शिवाजी, रणजीत सिंह, प्रताप सिंह आदि वीरों के शरीर बहुत वर्ष हुए पंचत्व को प्राप्त हो गए, किंतु उनके परिश्रमों के फल बड़ौदा, ग्वालियर, राजपुताना, कश्मीर आदि की रियासतें आज भी हमारे सम्मुख उपस्थित हैं। महारानी विक्टोरिया ने जो दया दिखलाई थी, उसके बल पर हम आज भी अपने को सभ्य संसार में ऊँचा मानते हैं और हमारे संतान ... बदौलत संसार में परमोच पद पाकर समय पर सत्य युग सुख भोगेंगे। इन सारे कर्मसमुदाय को क्या कोई मनुष्य ... सारहीन अथवा क्षणस्थायी कह सकता है? क्या इनके ... फल भारत में किसी न किसी रूप में अपना प्रभाव सदैव नहीं डाला करेंगे? संसार में व्यक्ति का विनाश हो जाता है, किंतु उसके कर्मों का विनाश कभी नहीं होता। कर्म जैसे

द्रष्टा और मिथ्या समझने के ऐसे ही भयंकर परिणाम होने सर्वथा स्वाभाविक हैं। प्रत्येक मनीषी पुरुष को सदैव ध्यान रखना चाहिए कि—

नहीं कुछ स्वप्नवत् बातों से है काम।
यहां पुरुषार्थ दिखलावें करें नाम॥

मनोरंजन पुस्तकमाला।

अब तक निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं—

(१) आदर्श-जीवन—लेखक रामचंद्र शुक्ल।
(२) आत्मोद्धार—लेखक रामचंद्र वर्म्मा।
(३) गुरु गोविंदसिंह—लेखक वेणीप्रसाद।
(४) आदर्श हिंदू १ भाग—लेखक मेहता लज्जाराम शर्म्मा।
(५) " २ " "
(६) " ३ " "
(७) राणा जंगबहादुर—लेखक जगन्मोहन वर्म्मा।
(८) भीष्म पितामह—लेखक चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्म्मा।
(९) जीवन के आनंद—लेखक गणपत जानकीराम दूबे बी. ए.
(१०) भौतिक-विज्ञान—लेखक संपूर्णानंद बी. एस-सी., एल.टी।
(११) लालचीन—लेखक बृजनंदन सहाय।
(१२) कबीरवचनावली—संग्रहकर्त्ता अयोध्यासिंह उपाध्याय।
(१३) महादेव गोविंद रानडे—लेखक रामनारायण मिश्र बी.ए.।
(१४) बुद्धदेव—लेखक जगन्मोहन वर्म्मा।
(१५) मितव्यय—लेखक रामचंद्र वर्म्मा।
(१६) सिक्खों का उत्थान और पतन—लेखक नंदकुमार देव शर्म्मा।
(१७) वीरमणि—लेखक श्यामबिहारी मिश्र एम. ए. और शुकदेवबिहारी मिश्र बी. ए.।
(१८) नेपोलियन बोनापार्ट—लेखक राधामोहन गोकुलजी।
(१९) शासनपद्धति—लेखक प्राणनाथ विद्यालंकार।

(२०) हिंदुस्थान, पहला खंड—लेखक दयाचंद्र गोयलीय बी. ए.
(२१) ,, ,, दूसरा खंड— ,, ,,
(२२) महर्षि सुकरात—लेखक वेणीप्रसाद।
(२३) ज्योतिर्विनोद—लेखक संपूर्णानंद बी. एस-सी., एल. टी.
(२४) आत्मशिक्षण—लेखक श्यामबिहारी मिश्र एम० ए० और
शुकदेव बिहारी मिश्र बी० ए०।